

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178728

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/S13P Accession No. G.H.245

Author साहनी, भीष्म ।

Title पहला पाठ ।

This book should be returned on or before the date
last marked below.

पहला पाठ

[कहानी-संग्रह]

भीष्म साहनी

साहनी प्रकाशन

५७, ऐस्प्लेनेड रोड, दिल्ली—६

प्रकाशक
कृष्णगोपाल साहनी
साहनी प्रकाशन
दिल्ली-६

मूल्य दो रुपये आठ आने

मुद्रक
राइजिंग सन प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

कल्चरल फ़ोरम दिल्ली के सहयात्री मित्रों के नाम

विषय-सूची

१. चीफ़ की दावत	...	...	...	१
२. रानी मेहतो	...	...	...	१३
३. भाई-बन्द	...	...	...	२१
४. पहला पाठ	...	...	...	२८
५. प्रणय-लीला	...	...	...	३४
६. पहिचान	...	...	...	४४
७. समाधि भाई रामसिंह	...	...	...	५५
८. बाप-बेटा	...	...	...	६७
९. काँटे की चुभन	...	...	...	७५
१०. एष धर्मः सनातनः	...	...	...	८३
११. पाप-पुण्य	...	...	...	९२
१२. ललिता	...	...	...	१००
१३. अकाल मृत्यु	...	...	...	११३
१४. छिपे चित्र	...	...	...	१२३
१५. फूलाँ	...	...	...	१३३

पहला पाठ

चीफ़ की दावत



आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ़ की दावत थी ।

शामनाथ और उनकी धर्मपत्नी को पसीना पोंछने की फुर्सत न थी । पत्नी ड्रैसिंग गाउन पहने, उलझे हुए बालों का जूड़ा बनाये, मुँह पर फैली हुई सुखी और पाउडर को भूले, और मिस्टर शामनाथ सिगरेट-पर-सिगरेट फूँकते हुए, चीजों की फेहरिस्त हाथ में थामे, एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रहे थे ।

आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी । कुर्सियाँ मेज़, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल, सब बरामदे में पहुँच गये । ड्रिंक का इन्तज़ाम बैठक में कर दिया गया । अब घर का फ़ालतू सामान आल-मारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा । तभी शाम-नाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गयी, माँ का क्या होगा ?

इस बात की ओर न उनका और न उनकी कुशल गृहिणी का ध्यान गया था । मिस्टर शामनाथ, श्रीमती की ओर घूमकर अंग्रेजी में बोले—माँ का क्या होगा ?

श्रीमती काम करते-करते ठहर गयीं, और थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोलीं—इन्हें पिछवाड़े इनकी सहेली के घर भेज दो । रात-भर बेशक वहीं रहें । कल आ जायें ।

शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, सिकुड़ी आँखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल-भर सोचते रहे, फिर सिर हिलाकर बोले—नहीं, मैं नहीं चाहता कि उस बुढ़िया का आना-जाना यहाँ फिर से शुरू हो । पहले ही बड़ी मुश्किल से बन्द किया था । माँ से कहें कि जल्दी ही खाना खाके शाम को ही अपनी कोठरी में चली जायें । मेहमान

चीफ की दावत

कहीं आठ बजे आयेंगे । इससे पहले ही अपने काम से निबट लें ।

सुभाव ठीक था । दोनों को पसन्द आया । मगर फिर सहसा श्रीमती बोल उठीं—जो वह सो गयीं और नींद में खरटे लेने लगीं, तो ? साथ ही तो बरामदा है, जहाँ लोग खाना खायेंगे ।

“तो इन्हें कह देंगे कि अन्दर से दरवाजा बन्द कर लें । मैं बाहर से ताला लगा दूँगा । या माँ को कह देता हूँ कि अन्दर जाकर सोयें नहीं, बैठी रहें, और क्या ?”

“और जो सो गयीं, तो ? डिनर का क्या मालूम कब तक चले । ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो तुम ड्रिंक ही करते रहते हो ।”

शामनाथ कुछ खीज उठे, हाथ भटकते हुए बोले—अच्छी भली यह भाई के पास जा रही थीं । तुमने यूँही खुद अच्छा बनने के लिए बीच में टाँग अड़ा दी !

“वाह ! तुम माँ और बेटे की बातों में मैं क्यों बुरी बनूँ ? तुम जानो और वह जानें ।”

मिस्टर शामनाथ चुप रहे । यह मौका बहस का न था, समस्या का हल ढूँढ़ने का था । उन्होंने घूमकर माँ की कोठरी की ओर देखा । कोठरी का दरवाजा बरामदे में खुलता था । बरामदे की ओर देखते हुए भट से बोले—मैंने सोच लिया है,—और उन्हीं कदमों माँ की कोठरी के बाहर जा खड़े हुए । माँ दीवार के साथ एक चौकी पर बैठी, दुपट्टे में मुँह-सिर लपेटे, माला जप रही थी । सुबह से तैयारी होती देखते हुए माँ का भी दिल धड़क रहा था । बेटे के दफ्तर का बड़ा साहब घर पर आ रहा है, सारा काम सुभीते से चल जाय ।

“माँ, आज तुम खाना जल्दी खा लेना । मेहमान लोग साढ़े सात बजे आ जायेंगे ।”

माँ ने धीरे से मुँह पर से दुपट्टा हटाया और बेटे को देखते हुए कहा—आज मुझे खाना नहीं खाना है, बेटा, तुम जानते तो हो, मांस-मछली बने, तो मैं कुछ नहीं खाती ।

चीफ की दावत

“जैसे भी हो, अपने काम से जल्दी निबट लेना ।”

“अच्छा, बेटा ।”

“और माँ, हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे । उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना । फिर जब हम यहाँ आ जायँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना ।”

माँ अवाक् बेटे का चेहरा देखने लगीं । फिर धीरे से बोलीं —
अच्छा, बेटा ।

“और माँ आज जल्दी सो नहीं जाना । तुम्हारे खराटों की आवाज़ दूर तक जाती है ।”

माँ लज्जित-सी आवाज़ में बोलीं—वया करूँ, बेटा, मेरे बस की बात नहीं है । जब से बीमारी से उठी हूँ, नाक से साँस नहीं ले सकती ।

मिस्टर शामनाथ ने इन्तज़ाम तो कर दिया, फिर भी उनकी उधेड़-बुन ख़त्म नहीं हुई । जो चीफ़ अचानक उधर आ निकला, तो ? आठ-दस मेहमान होंगे, देसी अफ़सर, उनकी स्त्रियाँ होंगी, कोई भी गुसल-खाने की तरफ़ जा सकता है । क्षोभ और क्रोध में वह फिर भुँभलाने लगे । एक कुर्सी को उठाकर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले—आओ माँ, इस पर ज़रा बैठो तो ।

माँ माला सँभालती, पल्ला ठीक करती उठीं, और धीरे से कुर्सी पर आकर बैठ गयीं ।

“यूँ नहीं, माँ, टाँगें ऊपर चढ़ाकर नहीं बैठते । यह खाट नहीं है ।”

माँ ने टाँगें नीचे उतार लीं ।

“और खुदा के वास्ते नंगे पाँव नहीं घूमना । न ही वह खड़ाऊँ पहन कर सामने आना । किसी दिन तुम्हारी वह खड़ाऊँ उठा कर मैं बाहर फेंक दूँगा ।”

“माँ चुप रहें ।”

“कपड़े कौन से पहनोगी, माँ ?”

“जो हैं, वही पहनूँगी, बेटा ! जो कहो, पहन लूँ ।”

मिस्टर शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, फिर अधखुली आँखों से माँ की ओर देखने लगे, और माँ के कपड़ों की सोचने लगे। शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का सब संचालन उनके अपने हाथ में था। खूँटियाँ कमरों में कहाँ लगायी जायँ, बिस्तर कहाँ पर बिछें, किस रंग के पर्दे लगाये जायँ, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहनें, मेज़ किस साइज़ की हो—शामनाथ को चिन्ता थी कि अगर चीफ़ का साक्षात् माँ से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना पड़े। माँ को सिर से पाँव तक देखते हुए बोले—तुम सफ़ेद कमीज़ और सफ़ेद सलवार पहन लो, माँ। पहनके आओ तो, ज़रा देखूँ।

माँ धीरे से उठीं और अपनी कोठरी में कपड़े पहनने चली गयीं।

“यह माँ का झमेला ही रहेगा, उन्होंने फिर अंग्रेज़ी में अपनी स्त्री से कहा—कोई ढंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गयी, चीफ़ को बुरा लगा, तो सारा मज़ा जाता रहेगा।”

माँ सफ़ेद कमीज़ और सफ़ेद सलवार पहनकर बाहर निकलीं। छोटा-सा कद, सफ़ेद कपड़ों में लिपटा, छोटा-सा सूखा हुआ शरीर, धुँधली आँखें, केवल सिर के आधे झड़े हुए बाल पल्ले की ओढ़ में छिप पाये थे। पहले से कुछ ही कम कुरूप नज़र आ रही थीं।

“चलो, ठीक है। कोई चूड़ियाँ-बूड़ियाँ हों, तो वह भी पहन लो। कोई हज़ं नहीं।”

“चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ, बेटा? तुम तो जानते हो, सब ज़ेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गये।”

यह वाक्य शामनाथ को तीर की तरह लगा। तिनक-कर बोला—यह कौन-सा राग छेड़ दिया, माँ! सीधा कह दो, नहीं है ज़ेवर, बस! इससे पढ़ाई-वढ़ाई का क्या तबलक है? जो ज़ेवर बिका, तो कुछ बनकर ही आया हूँ, निरा लेंडूरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था, उससे दुगना ले लेना।

“मेरी जीभ जल जाय, बेटा, तुमसे ज़ेवर लूँगी ? मेरे मुँह से यूँही निकल गया । जो होते, तो लाख बार पहनती !”

साढ़े पाँच बज चुके थे । अभी मिस्टर शामनाथ को खुद भी नहा-धोकर तैयार होना था । श्रीमती कबकी अपने कमरे में जा चुकी थीं । शामनाथ जाते हुए एक बार फिर माँ को हिदायत करते गये—माँ, रोज़ की तरह गुमसुम बन के नहीं बँठी रहना । अगर साहब इधर आ निकलें और कोई बात पूछें, तो ठीक तरह से बात का जवाब देना ।

“मैं न पढ़ी, न लिखी, बेटा, मैं क्या बात कहूँगी । तुम कह देना, माँ अनपढ़ है, कुछ जानती-समझती नहीं । वह नहीं पूछेगा ।”

सात बजते-बजते माँ का दिल धक्-धक् करने लगा । अगर चीफ़ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा, तो वह क्या जवाब देगी ? अंग्रेज़ को तो दूर से ही देखकर वह घबरा उठती थी, यह तो अमरीकी है । न मालूम क्या पूछे । मैं क्या कहूँगी । माँ का जी चाहा कि चुपचाप पिछवाड़े विधवा सहेली के घर चली जाय । मगर बेटे के हुक्म को कैसे टाल सकती थी । चुपचाप कुर्सी पर से टांगें लटकाये वहीं बँठी रही ।

एक कामयाब पार्टी वह है, जिसमें ड्रिंक कामयाबी से चल जायें । शामनाथ की पार्टी सफलता के शिखर चूमने लगी । वार्तालाप उसी री में बह रहा था, जिस री में गिलास भरे जा रहे थे । कहीं कोई रुकावट न थी, कोई अड़चन न थी । साहब को व्हिस्की पसन्द आयी थी । मेम साहब को पर्दे पसन्द आये थे, सोफ़ा-कवर का डिज़ाइन पसन्द आया था, कमरे की सजावट पसन्द आयी थी । इससे बढ़कर क्या चाहिए । साहब तो ड्रिंक के दूसरे दौर में ही चुटकुले और कहानियाँ कहने लग गये थे । दफ़्तर में जितना रोब रखते थे, यहाँ पर उतने ही दोस्त-परवर हो रहे थे और उनकी स्त्री, काला गाउन पहने, गले में सफ़ेद मोतियों का हार, सेन्ट और पाउडर की महक से ओत-प्रोत, कमरे में बँठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केन्द्र बनी हुई थीं । बात-बात

पर हँसतीं, बात-बात पर सिर हिलातीं । और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बातें कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हो ।

और इसी रौ में पीते-पिलाते साढ़े दस बज गये । वक्त गुज़रता पता ही न चला ।

आखिर सब लोग अपने-अपने गिलासों में से आखिरी घूँट पीकर खाना खाने के लिए उठे और बैठक से बाहर निकले । आगे-आगे शामनाथ रास्ता दिखाते हुए, पीछे चीफ और दूसरे मेहमान ।

बरामदे में पहुँचते ही शामनाथ सहसा ठिठक गये । जो दृश्य उन्होंने देखा, उससे उनकी टांगें लड़खड़ा गयीं, और क्षण-भर में सारा नशा हिरन होने लगा । बरामदे में ऐन कोठड़ी के बाहर मां अपनी कुर्सी पर ज्यों-की-त्यों बैठी थीं । मगर दोनों पांव कुर्सी की सीट पर रखे हुए, और सिर दायें से बायें और बायें से दायें भूल रहा था और मुँह में से लगातार गहरे खर्राटों की आवाज़ें आ रही थीं । जब सिर कुछ देर के लिए टेढ़ा होकर एक तरफ़ को थम जाता, तो खर्राटे और भी गहरे हो उठते । और फिर जब झटके-से नींद टूटती, तो सिर फिर दायें से बायें भूलने लगता । पल्ला सिर पर से खिसक आया था, और मां के भरे हुए बाल, आधे गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त बिखर रहे थे ।

देखते ही शामनाथ क्रुद्ध हो उठे । जी चाहा कि मां को धक्का देकर उठा दें, और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना सम्भव न था, चीफ और बाकी मेहमान पास खड़े थे ।

मां को देखते ही देसी अफ़सरों की कुछ स्त्रियाँ हँस दीं कि इतने में चीफ ने धीरे से कहा—पूअर डियर !

माँ हड़बड़ाके उठ बैठीं । सामने खड़े इतने लोगों को देखकर ऐसी घबरायीं कि कुछ कहते न बना । झट से पल्ला सिर पर रखती हुई खड़ी हो गयीं और ज़मीन को देखने लगीं । उनके पांव लड़खड़ाने लगे और हाथों की उँगलियाँ थर-थर कांपने लगीं ।

“माँ, तुम जाके सो जाओ, तुम क्यों इतनी देर तक जाग रही

थीं ?”—और खिसियायी हुई नज़रों से शामनाथ चीफ़ के मुँह की ओर देखने लगे ।

चीफ़ के चेहरे पर मुस्कराहट थी । वह वहीं खड़े-खड़े बोले—
“नमस्ते !”

माँ ने भिन्नकते हुए, अपने में सिमटते हुए दोनों हाथ जोड़े, मगर एक हाथ दुपट्टे के अन्दर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर पायीं । शामनाथ इसपर भी खिन्न हो उठे ।

इतने में चीफ़ ने अपना दायाँ हाथ, हाथ मिलाने के लिए माँ के आगे किया । माँ और भी घबरा उठीं ।

“माँ, हाथ मिलाओ ।”

पर हाथ कैसे मिलातीं ? दायाँ हाथ में तो माला थी । घबराहट में माँ ने बायाँ हाथ ही साहब के दायाँ हाथ में रख दिया । शामनाथ दिल ही दिल में जल उठे । देसी अफ़सरों की स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं ।

“यूँ नहीं, माँ ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है । दायाँ हाथ मिलाओ ।”

मगर तब तक चीफ़ माँ का बायाँ हाथ ही बार-बार हिलाकर कह रहे थे—“हौ डू यू डू ?”

“कहो माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ ।”

माँ कुछ बड़बड़ायीं ।

“माँ कहती है, मैं ठीक हूँ । कहो माँ, हौ डू यू डू ।”

माँ धीरे से सकुचाते हुए बोलीं—“हौ डू डू...”

एक बार फिर कहकहा उठा ।

वातावरण हल्का होने लगा । साहब ने स्थिति सँभाल ली थी । लोग हँसने-चहकने लगे थे । शामनाथ के मन का क्षोभ भी कुछ-कुछ कम होने लगा था ।

साहब अपने हाथ में माँ का हाथ अब भी पकड़े हुए थे, और माँ सिकुड़ी जा रही थीं । साहब के मुँह से शराब की बू आ रही थी ।

शामनाथ अँग्रेजी में बोले—मेरी मां गाँव की रहने वाली हैं। उमर-भर गाँव में रही हैं। इसलिए आप से लजाती हैं।

साहब इस पर खुश नज़र आये। बोले—सच ? मुझे गाँव के लोग बहुत पसन्द हैं, तब तो तुम्हारी मां गाँव के गीत और नाच भी जानती होंगी ?—चीफ़ खुशी से सिर हिलाते हुए मां को टिकटिकी बांधे देखने लगे।

“मां, साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत, तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।”

मां धीरे से बोलीं—मैं क्या गाऊंगी, बेटा। मैंने कब गाया है ?

“वाह, मां ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है ?”

“साहब ने इतनी रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे।”

“मैं क्या गाऊँ, बेटा, मुझे क्या आता है ?”

“वाह ! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अनारों दे...”

देसी अफ़सर और उनकी स्त्रियों ने इस सुझाव पर तालियाँ पीटीं। मां कभी दीन दृष्टि से बेटे के चेहरे को देखती, कभी पास खड़ी बहू के चेहरे को।

इतने में बेटे ने गंभीर आदेश-भरे लहजे में कहा—मां !

इसके बाद हां या ना का सवाल ही न उठता था। मां बैठ गयीं और क्षीण, दुर्बल, लरज़ती आवाज़ में एक पुराना विवाह का गीत गाने लगीं—

हरिया नी माये, हरिया नी भैणे

हरिया ते भागी भरिया है !

देसी स्त्रियां खिलखिलाके हँस उठीं। तीन पंक्तियाँ गाके मां चुप हो गयी।

बरामदा तालियों से गूँज उठा। साहब तालियाँ पीटना बन्द ही न करते थे। शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी।

मां ने पार्टी में नया रंग भर दिया था ।

तालियाँ थमने पर साहब बोले—पंजाब के गांवों की दस्तकारी क्या है ?

शामनाथ खुशी में भूम रहे थे । बोले—ओ, बहुत कुछ साहब ! मैं आपको एक सेट उन चीजों का भेंट करूंगा । आप उन्हें देखकर खुश होंगे ।

मगर साहब ने सिर हिलाकर अँग्रेजी में फिर पूछा—नहीं, मैं दुकानों की चीज नहीं माँगता । पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती हैं ?

शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले—लड़कियां गुड़ियां बनाती हैं, औरतें फुलकारियाँ बनाती हैं ।

“फुलकारी क्या ?”

शामनाथ फुलकारी का मतलब समझाने की असफल चेष्टा करने के बाद मां को बोले—क्यों, माँ, कोई पुरानी फुलकारी घर में है ?

माँ चुपचाप अन्दर गयीं और अपनी पुरानी फुलकारी उठा लायीं ।

साहब बड़ी रुचि से फुलकारी देखने लगे । पुरानी फुलकारी थी, जगह-जगह से उसके तागे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था । साहब की रुचि को देखकर शामनाथ बोले—यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नयी बनवा दूँगा । मां बना देंगी । क्यों, मां साहब को फुलकारी बहुत पसन्द है, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी न ?

माँ चुप रही । फिर डरते-डरते धीरे से बोली—अब मेरी नज़र कहाँ है, बेटा ? बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी ?

मगर माँ का वाक्य बीच ही में तोड़ते हुए शामनाथ साहब को बोले—वह जरूर बना देंगी । आप उसे देखकर खुश होंगे ।

साहब ने सिर हिलाया, धन्यवाद किया और हल्के-हल्के भूमते हुए खाने की मेज़ की ओर बढ़ गये । बाकी मेहमान भी उनके पीछे-पीछे हो लिये ।

जब मेहमान बैठ गये और माँ पर से सब की आंखें हट गयीं, तो मां धीरे से कुर्सी पर से उठीं, और सबसे नज़रें बचाती हुई अपनी कोठरी में चली गयीं ।

मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आंखों से छल-छल आंसू बहने लगे । वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछतीं, पर वह बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बांध तोड़कर उमड़ आये हों । माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आंखें बन्द कीं, मगर आंसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे ।

आधी रात का वक्त होगा । मेहमान खाना खाकर एक-एक करके जा चुके थे । मां दीवार से सटकर बैठी आंखें फाड़े दीवार को देखे जा रही थीं । घर के वातावरण में तनाव ढीला पड़ चुका था । मुहल्ले की निस्तब्धता शामनाथ के घर पर भी छा चुकी थी, केवल रसोई में प्लेटों के खनकने की आवाज़ आ रही थी । तभी सहसा मां की कोठरी का दरवाज़ा जोर से खटकने लगा ।

“माँ, दरवाज़ा खोलो ।”

माँ का दिल बैठ गया । हड़बड़ाकर उठ बैठीं । क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गयी है ? मां कितनी देर से अपने आप को कोस रही थीं कि क्यों उसे नींद आ गयी, क्यों वह ऊँघने लगी । क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया ? मां उठीं और कांपते हाथों से दरवाज़ा खोल दिया ।

दरवाज़ा खुलते ही शामनाथ झूमते हुए आगे बढ़ आये और माँ को आलिंगन में भर लिया ।

“ओ अम्मी ! तुमने तो आज रंग ला दिया !... साहब तुम से इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ । ओ अम्मी ! अम्मी !”

मां की छोटी-सी काया सिमटकर बेटे के आलिंगन में छिप गयी । मां की आँखों में फिर आँसू आ गये । उन्हें पोंछती हुई धीरे से बोली —

बेटा, तुम मुझे हरिद्वार भेज दो। मैं कब से कह रही हूँ।

शामनाथ का भ्रूमना सहसा बन्द हो गया और उनकी पेशानी पर फिर तनाव के बल पड़ने लगे। उनकी बाहें माँ के शरीर पर से हट आयीं।

“क्या कहा, माँ? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया?”

शामनाथ का क्रोध बढ़ने लगा था, बोलते गये—तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे कि बेटा माँ को अपने पास नहीं रख सकता।

“नहीं, बेटा, अब तुम अपनी बहू के साथ जैसा मन चाहे रहो। मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहाँ क्या करूँगी। जो थोड़े दिन जिन्दगानी के बाकी हैं, भगवान का नाम लूँगी। तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!”

“तुम चली जाओगी, तो फुलकारी कौन बनायेगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इक्क़रार किया है।”

“मेरी आँखें अब नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी-बनायी ले लो।”

“माँ, तुम मुझे धोखा देके यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी।”

माँ चुप हो गयी। फिर बेटे के मुँह की ओर देखती हुई बोली—क्या तेरी तरक्की होगी? क्या साहब तेरी तरक्की कर देगा? क्या उसने कुछ कहा है?

“कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है। कहता था, जब तेरी माँ फुलकारी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने आऊँगा कि कैसे बनाती है। जो साहब खुश हो गया, तो मुझे इससे बड़ी नौकरी भी मिल सकती है, मैं बड़ा अफ़सर बन सकता हूँ।”

माँ के चेहरे का रंग बदलने लगा, धीरे-धीरे उसका भुर्रियों-भरा

मुँह खिलने लगा, आँखों में हल्की-हल्की चमक आने लगीं ।

“तो तेरी तरक्की होगी, बेटा ?”

“तरक्की यूँ ही हो जायगी ? साहब को खुश रखूँगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करने वाले और थोड़े हैं ?”

“तो मे बना दूँगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूँगी ।”

और माँ दिल ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनायें करने लगीं और मिस्टर शामनाथ, “अब सो जाओ, मां,” कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गये ।

रानी मेहतो



कहते हैं, किसी ज़माने में कांगड़े में एक विचित्र राजा राज करता था। हम नहीं जानते कि उसकी कहानी सच है या झूठ; हम यह भी नहीं जानते कि वह राजा कभी हुआ भी था या केवल किसी मनुष्य की कल्पना ने ही उसे जीवन-दान दिया; पर कांगड़े का कोई घर या भोंपड़ी नहीं, जहाँ इस राजा की कहानी न कही जाती हो। कांगड़े के लोग जब अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं, तो इसकी कहानी कह कर; अपनी जवान लड़कियों को डराते हैं, तो उसका नाम लेकर और जब चावल ६ सेर के ४ सेर रह जाएँ, तो भी उसी राजा का शाप याद करते हैं और कहते हैं कि जब तक शाप न टलेगा, कांगड़े में खुशहाली नहीं आएगी।

उस राजा का नाम वाण-वट्ट था, क्योंकि वह राजा वाण या सन के रस्से बना-बना कर बेचा करता था। उसकी एक ही रानी थी—रानी मेहतो, जो अपने हाथ से रसोई बनाती, कपड़े धोती, बरतन माँजती और पहाड़ी नाले पर से पानी खींचा करती।

राजा वाण-वट्ट दिन-भर राज-पाट का काम देखता, न्याय करता, अपना दीवान लगाता और दोपहर गए राजसी काम से निबट, अपने भोंपड़े में लौट आता, जो उसने अपने किले के एक कोने में बना रखा था। यहाँ आकर वह अपना राजसी बाना उतार देता और साधारण श्रमिकों के कपड़े पहन कर, रात गए तक रस्से बनाता रहता था। बाहर राजपथ पर जाते हुए लोग उसे दूर से अपने काम पर झुका हुआ देखते और रानी को दीवार पर से पानी का डोल लटकाए, नीचे बहते हुए पहाड़ी नाले में से पानी खींचते हुए देखते तो श्रद्धा से हाथ जोड़ कर नमस्कार करते। उस राजा के राज में सब सुखी थे, सब परिश्रम

करते, सबके घर अनाज से भरे रहते और लोग कहते, “कांगड़े में लक्ष्मी का वास है।”

रानी मेहतो कुल्लू के राजा की बेटा थी, और अप्सरा-सी सुन्दर थी। राजा चीड़ के पेड़ के समान कड़ावर, विशाल-वक्ष और सुन्दर था। दोनों एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे और दोनों अपने भाग्य से सन्तुष्ट, सुख और आनन्द में जीवन बिता रहे थे।

फिर एक दिन रानी की कुछ सहेलियाँ कुल्लू से मिलने के लिए आयीं। सब-की-सब छम-छम कपड़े पहने, गहनों से लदी, हँसती-खेलती किले के अन्दर पहुँचीं। पर, ज्यों ही उन्होंने रानी मेहतो का भोंपड़ा देखा, तो होंठ काट कर रह गयीं। रानी मेहतो उन्हें देख कर भागती हुई बाहर आयी, एक-एक को गले लगाया और उन्हें अपने साथ भोंपड़े में ले गयी। भोंपड़े के अन्दर न सेज, न बिछौना, न पलंग। रानी ने एक कोने में से एक चटाई उठायी और उसे ज़मीन पर बिछा दिया। फिर घर में जो रूखा-सूखा था, उनके सामने लाकर रख दिया। रानी की सखियाँ इस पर रो पड़ीं। एक ने कहा :—

“रानी मेहतो, कभी रानियाँ भी भोंपड़ों में रहती हैं? तू तो राजा की बेटा है, तेरे बदन पर तो एक भी गहना नहीं। कभी रानियाँ भी गाढ़े के कपड़े पहनती हैं? उनके गले में तो हीरे-मोतियों की माला डोलती है! राजा ने तेरा क्या हाल कर दिया है!”

इस पर रानी मेहतो हँस पड़ी और कहने लगी :—

“मेरे पास सब कुछ है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरा राजा अपने हाथ से अपनी कमाई करता है, तो मैं क्यों न काम करूँ?”

“राजा क्या काम करता है?”

जब रानी ने बताया, तो वह दाँतों तले उँगली दबा कर एक-दूसरे का मुँह देखने लगीं। फिर एक बोली :—

“रानी मेहतो, कभी राजा भी रस्सियाँ बनाते हैं? वे तो सब पर राज करते हैं, उनके मुकुट में तो माणिक-मोती चमकते हैं। रानी

मेहतो, तेरा फूल-सा बदन सूख कर काँटा हो जाएगा ।”

इस पर रानी मेहतो फिर हँसने लगी । वह बोली :—

“मैं तो वाण-वट्ट की रानी हूँ, किसी और की नहीं । मुझे माणिक-मोती नहीं चाहिए, उसकी खुशी में मेरी खुशी है । मेरे पास सब-कुछ है ।”

इसके बाद कई दिन तक सखियाँ रानी के पास रहीं । दिन-भर वे रानी मेहतो के पास रहतीं, उससे खेलतीं, बचपन के बीते दिन याद दिलातीं, पर ढलती दोपहर को जब राजा रस्सों का बोझा कंधों पर उठाये भोंपड़े के सामने आता, तो वे उठ कर महल में चली जातीं, जहाँ उनके रहने का प्रबन्ध हुआ था । रानी से जो बन पड़ता, उनकी सेवा करती, पर सखियाँ बार-बार उसकी हालत पर रो-रो उठतीं, बार-बार राजा वाण-वट्ट को कोसतीं, और बार-बार उसके दुर्भाग्य की दुहाई देने लगतीं । रानी मेहतो सब-कुछ सुनती और हर वक्त हँसती रहती ।

पर, जो पत्थर पर भी बूँद-बूँद पानी गिरे, तो वह कटने लगता है । रानी मेहतो तो युवा थी, सुन्दर थी और एक राजा की बंदी थी ।

एक दिन रानी सखी-सहेलियों के साथ हँस-खेल रही थी कि एक सखी ने सहसा अपना मोतियों का हार उतार कर रानी मेहतो के गले में पहना दिया । इतने में एक दूसरी सखी ने अपने सोने के भूमर उतार कर रानी के कानों में पहना दिये, और तीसरी ने नाक की नथ और सुहाग का टीका । रानी बहुतेरा भुँभलाती और ‘न’-‘न’ करती रही, पर देखते ही देखते उसका सारा शरीर आभूषणों से सज गया । फिर एक सहेली भागती हुई गई और दर्पण उठा कर ले आयी और उसने उसे रानी के मुँह के सामने रख दिया । रानी ने अपने चेहरे की झलक शोशे में देखी, तो चक्काचौंध हो गयी । उसके सौन्दर्य की छबि सँभाले न सँभलती थी ।

रानी ने झट से एक-एक करके सब गहने उतार दिये, पर उसका मन उदास हो उठा।

उस शाम जब राजा वाण-बट्ट रस्सी का बोझा उठाये घर आया तो रानी ने नियमानुकूल उसके बैठने के लिए आसन बिछाया, उसके हाथ-पाँव धुलाये, उसे ठण्डा जल पीने को दिया; मगर उसके चेहरे पर वह रोज की सी हँसी न थी, न ही उसकी ज़बान पर आमोद-प्रमोद की बात।

रानी उदास रहने लगी। मुँह से कुछ न कहती, पर हर वक्त अन्दर ही अन्दर घुलती रहती। राजा बार-बार पूछता, मगर वह बिना कुछ कहे मुँह फेर लेती। उसकी सखियाँ भी उसका दिल बहलाने के बड़े उपाय करतीं, पर रानी चुपचाप बैठी रहती और उनकी बातें सुनती रहती।

दो सप्ताह रहने के बाद एक दिन सखियाँ बिदा हुईं। रानी किले के दरवाजे तक उन्हें छोड़ने के लिए गयी और वापिस आकर चटाई पर औंधी पड़ रही।

जब राजा दोपहर को घर आया, तो रानी चटाई पर से नहीं उठी, बल्कि मुँह फेर कर लेटी रही। राजा चिन्तित हो उठा और उसके पास बैठ कर बार-बार उसका हाल पूछने लगा। इस पर रानी पहले तो फफक-फफक कर रोने लगी, फिर छूटते ही बोली :—

“न तुम राजा हो, न मैं रानी हूँ, चलो यहाँ से बाहर चल कर रहें !”

राजा ने क्षण भर में रानी के दिल की बात समझ ली। चुपचाप वह वहाँ से उठ कर बाहर चला गया और बड़ी देर तक गहरी सोच में इधर-उधर घूमता रहा।

दूसरे दिन राजा ने चुपचाप अपनी तिजोरी खोली, जिसमें वह रस्सों की कमाई के पैसे रखा करता था। सब पैसे निकाल कर, सीधा बाज़ार की ओर चला गया। जब लौट कर आया, तो उसने रानी

मेहतो के पास जाकर, उसे दो चमकती सोने की अँगूठियाँ पहनने को दीं। रानी ने अँगूठियों को देखा फिर राजा के चेहरे की तरफ, और मुँह फेर कर अँगूठियाँ लौटा दीं।

“अँगूठियाँ तो दासियों को भी मिल जाती हैं, तुम्हें किसी दासी से ब्याह करना चाहिए था !”

यह सुन कर राजा का मन खिन्न हो उठा। दुःखी और व्याकुल, वह सिर झुकाये भोंपड़े से बाहर निकल आया और बड़ी देर तक किले की दीवार पर बैठा सोचता रहा।

उस दिन के बाद राजा हर रोज़ आधी रात गहरे नींद से उठ बैठता और बाहर आकर रस्सियाँ बनाने लगता। धूप चढ़ जाती, तब वह कहीं रस्सियाँ बनाना छोड़ता। फिर दोपहर को जब दरबार से लौटता, तो रस्सियाँ बनाने लगता। वह अपनी भूख-प्यास भूल गया। उसका शरीर मेहनत और थकान से सूख कर काँटा होने लगा। कई दिन इसी तरह बीत गये। पर इतना होते हुए भी रानी की आँखों के आँसू सूख न पाये। उसे दुःखी देखता, तो राजा और भी परिश्रम से रस्से बनाने में लग जाता। मगर, भला रस्सियों की कमाई से भी कभी रानियों के जेवर बने हैं ?

इसी तरह जब राजा अपनी कमाई से एक कंगन खरीद कर लाया, तो रानी ने उसे भी ठुकरा दिया।

आधी रात का समय था। रानी बिना कुछ खाये-पिये, रो धो कर सो चुकी थी। पर राजा अब भी किले की दीवार पर खड़ा सोच रहा था। जितनी देर रानी जागती रही, राजा उसकी सिसकियों की आवाज़ सुनता रहा। उनके छोटे से भोंपड़े में, जहाँ पहले कुछ न होते हुए भी लक्ष्मी विराजती थी और दोनों सुख की नींद सोते थे, अब दुःख, क्लेश और व्याकुलता के साये हटाये न हटते थे।

आखिर राजा का धैर्य टूट गया। उसने एक बार भाँक कर भोंपड़े के अन्दर देखा, रानी चटाई पर ओंधी पड़ी सो रही थी, जैसे विषाद

की मूर्ति पड़ी हो। बड़ी देर तक राजा फिर सोचता रहा। कभी दबे पाँव भोंपड़े में जाता, फिर बाहर निकल आता। आखिर उससे न रहा गया। वह अन्दर गया और अन्धेरे में चुपचाप अपना राजसी बाना पहन, सिर पर मुकुट धर कर, बाहर निकल आया और सीधा महल की ओर खाना हुआ। जब महल के पास पहुँचा, तो महल के सब दरवाजे बन्द थे और द्वारपाल बैठे ऊँघ रहे थे। राजा ने महल खुलवाया और वह सीधा शाही खजाने में जा पहुँचा। शाही खजाने में काँगड़ा-राज्य की सारी धन-राशि, मोहरें और अशरफियाँ थैलियों में भरी पड़ी थीं। हीरे और पन्नों के थाल, सोने और चाँदी की ईंटें, सारा खजाना भरपूर पड़ा था। राजा बड़ी देर तक इस खजाने को देखता रहा, फिर अपने कांपते हाथों से एक थैली अशरफियों की उठायी और खजाने का दरवाजा बन्द करके बाहर निकल आया।

दूसरे रोज़ राजा ने एक चमकते गहनों का थाल अपनी रानी को भेंट किया। रानी मेहतो की आँखें जेवरों के भरे थाल को देख कर चमक उठीं। उसका रोम-रोम नाच उठा। उसने पुलकित हो, राजा के दोनों पाँव छू लिये और एक-एक गहना उठा-उठा कर पहनने लगी; पहनती जाती और खुशी से मतवाली हो-हो उठती। राजा ने उसे कई दिनों बाद यों खुश देख कर दिल में सन्तोष की सांस ली।

पर उस शाम जब राजा वाण-वट्ट रस्सियाँ बनाने लगा, तो उसे ज्वर हो आया। बार-बार काम करने की चेष्टा करता, पर ज्वर का कोप बढ़ता ही गया और पाँव लड़खड़ाने लगे। लाचार वह गिरता-पड़ता अन्दर आकर चटाई पर लेट गया। रानी उस समय शीशे के सामने बैठी, अपने बालों में मोती टाँक रही थी। रानी ने पहले तो राजा की ओर कोई ध्यान न दिया, पर जब राजा ने घबरायी आवाज़ में पानी माँगा, तो रानी घबरा कर उठ बैठी। राजा का चेहरा ज्वर के कारण तपे ताँबे का-सा हो रहा था और होंठ सूख रहे थे।

रानी भाग कर पानी लाने के लिये गयी, घर में पानी की एक

बूँद भी न थी। रानी दिन-भर अपने गहने सँजोती रही थी, उसे घर की सुधि ही न रही थी। रानी ने झट से पानी का डोल उठाया और भागी हुई किले की दीवार पर गयी, जिसके नीचे पहाड़ी नाला बहता था। सिर से पाँव तक गहनों में लदी हुई, रानी मेहतो से अपना बोझ भी सँभाले न सँभलता था।

नाले पर पहुँच कर रानी ने झट से डोल को नीचे उतारा और थोड़ी देर रस्सी को हिलाने-डुलाने के बाद ऊपर खींचा। मगर डोल में एक बूँद भी पानी न आया। रानी हैरान हो गयी। उसने डोल को अच्छी तरह से देखा कि कहीं छेद तो नहीं, और फिर पानी में उतारा। मगर डोल फिर भी खाली का खाली ऊपर आया। रानी ने झटक कर नीचे की ओर देखा और उसी क्षण चीख मार कर पीछे हट गयी। पानी की लहरें थम गयी थीं, पानी का रंग काला पड़ गया था और वह नीचे ही नीचे बैठा जा रहा था और उसकी अँधियारी सतह पर रानी मेहतो के जेवरों का प्रतिबिम्ब झिलमिला रहा था। रानी भागती हुई राजा के पास आयी और बोली कि पानी का रंग काला पड़ गया है और वह नीचे ही नीचे बैठा जा रहा है। मगर राजा निढाल पड़ा था, वह क्या करता? रानी फिर भाग कर नाले पर आयी और उसने दीवार के दूसरे सिरे पर से डोल नीचे उतारा, मगर वहाँ भी लहरें थम गयीं, पानी का रंग काला पड़ गया और वह नीचे ही नीचे जाने लगा। केवल रानी के जेवरों का प्रतिबिम्ब उस पर झिलमिलाता हुआ नज़र आया।

रानी तो जैसे पागल हो गयी। बार-बार डोल को पानी में फेंकती मगर जितना ही डोल को नीचा करती, उतना ही पानी नीचे उतरता जाता। बार-बार ऐसा करने पर भी जब पानी न मिलता, तो वह चीखती-चिल्लाती राजा के पास दौड़ी जाती।

अँधेरा बढ़ने लगा और रानी के डोल में एक बूँद पानी भी न आया। आखिर व्याकुल और अधीर, वह झोंपड़े की दीवार के साथ

निढाल होकर बैठ गयी और अपना एक-एक गहना नोच-नोच कर फेंकने लगी। वह रोती जाती और गहने फेंकती जाती। यहाँ तक कि उसने अपने सब गहने उतार कर भोंपड़े के बाहिर फेंक दिये।

इतने में राजा की फिर आवाज़ आयी : “पानी, मेहतो, पानी !”
रानी ने बाहिर से ही रोते हुए जवाब दिया :—

“पानी नहीं है, मैं कहाँ से लाऊँ पानी ?” पर नज़र घुमा कर अन्दर देखा, तो राजा चटाई पर पड़ा छटपटा रहा था।

रानी उसकी यह दशा सहन न कर सकी। वह फिर उठी और पागलों की तरह गिरती-पड़ती, डोल उठा कर किले की दीवार पर गयी और उसने डोल लटकाया। डोल उतरना था कि धीरे-धीरे पानी में फिर लहरें आने लगीं, पानी का रंग बदल कर स्वच्छ और निर्मल होने लगा और पानी का स्तर ऊँचा उठते-उठते डोल को छूने लगा। देखते ही देखते नाले का पानी फिर से बहने लगा और डोल पानी से लबालब भर गया। रानी भागती हुई, पानी का छलकता डोल उठा कर भोंपड़े के अन्दर गयी। पर देखा, तो राजा की देह शान्त हो चुकी थी, उसके होंठ अब भी पानी की बूँद के लिए खुले पड़े थे और पथरायी हुई आँखें भोंपड़े की छत को ताक रही थीं। रानी वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी।

कहते हैं, राजा मर गया और रानी पागल हो गयी और देश उजड़ गया।

दोपहर का समय था और बला की लू चल रही थी, मैं एक दोस्त की प्रतीक्षा में उसी के दफ्तर के बाहर एक पेड़ के नीचे खड़ा था। देर होती जा रही थी, और मैं अपनी खीझ दबाने के लिए कभी दफ्तर की छोटी-सी दीवार पर जा बैठता, कभी टहलने लगता, कभी जब मैं से अखबार निकाल कर पढ़ने लगता, और कभी उसी पेड़ के नीचे बैठे हुए तीन आदमियों के बारे में कयास लगाने लगता कि ये कौन होंगे, कहाँ से आये होंगे, और आपस में धीरे-धीरे क्या बातें कर रहे होंगे ? एक ज़रूर उनमें से चपरासी था, क्योंकि उसने दफ्तरी वर्दी पहन रखी थी, और लाल चपरास लटकाये हुए था, साथ ही शक्ल सूरत भी शहरी दफ्तरियों की-सी थी, लंबे-लंबे तेल-सने बाल, तराशी हुई मूँछें, ओठ और दाँत पान-तम्बाकू से स्याह। बाकी दो किसी गाँव से आये जान पड़ते थे, क्योंकि उनकी वेश-भूषा और चाल-ढाल ग्रामीणों की-सी थी। पर इस गुप्त वार्तालाप का अनुमान लगाना कठिन था। कभी चपरासी गाँव वाले की ठुड्डी पर हाथ रखता, और कभी गाँव वाला चपरासी के घुटने पकड़ता। न मालूम कोई सगाई होने जा रही थी, या कोई गाय बिकने आयी थी, या कोई और सौदा धुकाया जा रहा था। तीसरा आदमी चुप-चाप पेड़ के तने से पीठ लगाये, कभी एक की तरफ़, कभी दूसरे की तरफ़ देखे जा रहा था। मैंने बहुतेरा दिमाग़ लड़ाया, पर आखिर उन पर से ध्यान हटा कर अपनी उधेड़बुन में खो गया।

इतने में वह ऊँचा-ऊँचा बोलने लगा। चपरासी कह रहा था :
 “मैं तो प्यार-मुहब्बत का आदमी हूँ। यह मैं प्रेम से दे रहा हूँ, तुम्हें

अपना समझ के दे रहा हूँ।”

वह अपनी मूट्टी को, जिसमें शायद कुछ पैसे बन्द थे, गाँव वाले की जेब में ठूँसने लगा।

“मैं नहीं लूँगा भैया, मैंने कह दिया।” और गाँव वाला उसके हाथ को बार बार जेब से बाहर निकालने लगा।

“फिर वही बात ? तुम से पैसे अच्छे हैं ? कसम से, और होते तो तुमसे इन्कार था ?”

“नहीं, मैं नहीं लूँगा।”

इस पर चपरासी की आवाज़ रूखी हो उठी :—

“फिर वही बात ? जो भाई-बन्द की तरह कह रहा हूँ तो उल्टा अकड़े जा रहा है। मैं सच कह दूँ मैं बहुत बुरा आदमी हूँ। मैं यह भी नहीं दूँगा।”

और फिर मूट्टी में पकड़े हुए एक नोट को ज़मीन पर पटक के उठ खड़ा हुआ और दफ़्तर के गेट की ओर जाने लगा।

गाँव वाले ने नोट उठाया। लपक कर उसके पीछे जा पहुँचा, और चपरासी को उसकी पेटी पकड़ कर वापस खींचने लगा।

“मेरे साथ शहरियों वाली बात न करो। यह लो पकड़ो अपना नोट। मैं नहीं लूँगा, मैंने कह दिया।”

और फिर चपरासी की दोनों टाँगें पकड़ कर ज़मीन पर बँठ गया :—

“देखता हूँ तुम कैसे जाओगे !”

गाँव वाला चिल्लाना जानता था, क्योंकि वह इतनी ऊँची आवाज़ में बोला कि चपरासी वहीं ठिठक गया और दफ़्तर की ओर देखने लगा कि कहीं किसी ने सुन न लिया हो। यों भी गाँव वाला भद्दा और कुरूप-सा आदमी था। चौड़ा, अन्धियारा मुँह, चेहरे पर न मालूम कितने दिन की दाढ़ी, सामने के तीन-चार दाँत टूटे हुए और बाकी पीले और मँले। मँली धोती, मँला ही कुर्ता, जब बात करता तो

मुँह में से भाग निकलती । जिस ढंग से वह चपरासी पर झपटा और चिल्लाया और उसकी टाँगें पकड़ कर बैठ गया, मुझे अत्यन्त अभद्र जान पड़ा । न मालूम पहले यह आदमी किस तरह धीरे-धीरे बातें कर रहा था ।

चपरासी ने फिर धीरे से कहा :—

“जो नहीं लेता तो ला, लौटा दे चिल्लाता क्यों है ?”

“ले पकड़, मैंने कह दिया, पूरे पैसे लूँगा ।”

चपरासी ने फिर समझाया :—

“जो मैं नहीं दूँ तो तू मेरा क्या बिगाड़ लेगा ? मेरे पास नहीं है तभी तो पांच रुपये दे रहा हूँ । जब होंगे बाकी भी दे दूँगा । मैंने इन्कार किया है ?”

“मैं नहीं लूँगा ।” ग्रामीण ने कहा, और फिर चपरासी की टाँगें पकड़ लीं ।

मेरे जी में आया कि आगे बढ़कर मामला निबटा दूँ, मगर मुझसे पहले ही एक बूढ़ी उमर का चपरासी दफ्तर से बाहर निकल आया । शायद चिल्लाहट सुन कर आ गया था । आते ही बोला : “अरे, फिर वही झगड़ा चल रहा है ?” और गाँव वाले के पास आकर कहने लगा : “जो मिलता है वह तो ले ले । देखता नहीं आजकल ज़माना सिर पर कैसा हो रहा है ? तू यह तो जेब में डाल । पैसे से इन्कार नहीं करते । पीछे और के लिए भी होता रहेगा, यह क्यों छोड़ता है ?”

“तुम अच्छे आये हो बीच में पड़ने वाले, भैया उसे तो कुछ कहते नहीं, उल्टा मुझे ही समझाने लगे हो ।”

पर वरदी वरदी की दोस्त होती है । चपरासी के हाथ से पाँच का नोट लेकर वह फिर गाँव वाले को देने लगा : “बच्चों की-सी बात नहीं करते, तू चुपचाप पैसे जेब में डाल ।”

पर जब इस बुजुर्ग का भी उस पर कोई प्रभाव न हुआ तो बूढ़ा

चपरासी बोला : —

“अच्छा, इधर आ, बात सुन मेरी ।”

“क्या है ?”, मगर गाँव वाले ने चपरासी की टाँगें नहीं छोड़ीं ।

“उठ भी तो, एक बात तुझसे कहनी है ।”

“यहीं कह दो । मैं नहीं उठूँगा ।”

“तेरे ही भले की कहता हूँ । यह कोई यहाँ से भागे जाता है ?”

आखिर ग्रामीण वहाँ से उठा, चपरासी वहीं पर खड़ा रहा । बूढ़ा चपरासी ग्रामीण के कन्धे पर हाथ रखे, उसे एक तरफ़ ले आया, जहाँ नज़दीक ही मैं दीवार पर बैठा था । उसके कान के पास मुँह ले जा कर बोला : “यह रण्डीबाज़, खाने-पीने वाला आदमी है, इसके पास पैसा कहाँ टिकता है ? तुझे दे रहा है, यहाँ बीसियों आते हैं, किसी को कौड़ी का ख़ादर नहीं होता । जो मिलता है ले ले, नहीं तो इससे भी जायेगा ।”

पर ग्रामीण ने कन्धा छुड़ा लिया और वापस घूम कर लौटने लगा । बूढ़े ने फिर समझाया : “अरे तू इसे जानता नहीं, शराबी-कबाबी आदमी है । शराबी किसी के नहीं होते, सयानी बात कर, जो मिलता है ले ले ।”

“मैं पूरे पैसे लेकर रहूँगा । एक कौड़ी कम नहीं लूँगा ।”

“जो नहीं देगा तो इसकी रपट लिखवायेगा ?”

“रपट लिखवाऊँ या जो क़रूँ, मैं पाँच रुपये नहीं लूँगा ।” और कन्धा छुड़ा कर फिर चपरासी के पास आ खड़ा हुआ ।

“क्या लेना है तूने इससे ?”, बूढ़े चपरासी ने पूछा ।

“पूरे चालीस रुपये ।”

इस पर चपरासी तिनक कर बोल उठा : “चालीस ? अरे दिमाग़ ठिकाने तो है तेरा ?”

ग्रामीण का चेहरा पीला पड़ गया, और आँखें लाल हो उठीं : “चालीस नहीं तो और क्या ? सौगन्ध खा के तुम्हीं कहो जो क्या

देना है ?”

“यही बीस-बाईस होंगे, और क्या ?”

“अरे भूठ बोलते शर्म नहीं आती ? पाँच-पाँच दो-दो कर के पूरे चालीस तुमने मुझसे लिये थे । मेरे पास सब लिखा है ।” और ग्रामीण कुर्ते की जेब में से एक मैला फटा हुआ कागज़ का टुकड़ा निकाल लाया ।

“तू जो मन में आवे लिख ले । मैं ज़िम्मेवार हूँ ? यही कोई बीस-बाईस बनते होंगे, धीरे-धीरे चुका दूँगा । मुझे कोई देने से इन्कारी है ?”

सहसा ग्रामीण घबरा उठा । पहले जो बढ़-बढ़ कर चिल्ला रहा था, और झपटा-झपटी कर रहा था, सहसा उसके हाथ-पाँव जैसे फूल गये । बूढ़े चपरासी के सामने गिड़गिड़ाने लगा : “तुम ही इसे कुछ समझाओ, भय्या, देखो, मेरे भाई की क्या हालत हो रही है ? मेरे पास उसकी दवाई भर के लिए पैसे नहीं हैं ।”

अब मेरी नज़र उस तीसरे आदमी की ओर गयी जो पेड़ के तने के साथ पीठ लगाये कब से बैठा था । आजकल लोगों में स्वस्थ कौन है, और बीमार कौन—पहचानना कठिन हो गया है । किन्तु ध्यान से देखा तो रोगी ही जान पड़ा, क्योंकि उसकी टाँगें अत्यन्त पतली और बाहें सूखी हुई थीं । चेहरा उसका भी चौड़ा था, मगर दाढ़ी मुँह की हड्डियों को छिपाये हुए थी ।

“अरे, इसी से तो कहता हूँ कि जो मिलता है, ले ले ।”

ग्रामीण घबराया हुआ अपने भाई की ओर गया ।

“कहो तो पाँच ही ले लूँ ? दो-चार दिन तो गुज़र चलेगी ।”

बीमार ने धीरे से सिर हिलाया, जिससे हाँ या न किसी का स्पष्ट बोध न हो सकता था ।

“मैं नहीं लूँगा पाँच रुपये, मर जाऊँ, मेरा भाई मर जाये, लेकिन मैं एक कौड़ी कम नहीं लूँगा । मैं पूरे पैसे लूँगा ।”

यह कहते हुए वह जमीन पर बैठ गया, और ऊँचा-ऊँचा चिल्लाने लगा। उसका यों शोर मचाना मुझे अच्छा न लगा। मैंने आगे बढ़ कर पूछा :—

“क्या बात है ? चिल्लाता क्यों है ?”

उसने मेरी ओर सकुचायी नज़रों से देखा, जैसे मैं भी उस चपरासी का कोई दोस्त हूँ। फिर मेरे कपड़ों को देखते हुए बोला : “क्या कहूँ बाबूजी, मैं छः महीने से इसके पीछे मारा-मारा भटक रहा हूँ, मेरे पैसे दबा गया है। पूरे चालीस रुपये बनते हैं, मगर जब माँगता हूँ तो दो रुपये निकाल कर दिखा देता है। आज कहता है सिर्फ बीस-बाईस लिये हैं।”

“यह तेरा कोई रिश्ते का है ?”

“नहीं साहब, रिश्ते का नहीं, गाँव का आदमी है। इधर पास ही मेरा गाँव है। वहाँ से यह काम करने चला आया। कुछ पैसे आते समय ले आया, कुछ धीरे-धीरे बाद में लेता रहा। अब जो मेरा भाई बीमार हो गया है तो मैं रोज़ चक्कर काटता हूँ, मुझे कुछ देने का नाम नहीं लेता। चिकनी-चुपड़ी सुना देता है। उधर फ़सल चौपट हो गयी है, घर में खाने को दाना नहीं। अब मैं क्या करूँ ?”

अभी वह आप-बीती सुना ही रहा था कि दफ़्तर में घण्टी बजी और चपरासी चल दिया। जाते हुए उसने फिर चपरास से पाँच का नोट निकाला और ग्रामीण की ओर बढ़ाते हुए बोला : “ले, लेगा या नहीं ?”

“मैं नहीं लूँगा, भय्या, पाँच से मेरा क्या बनेगा ?”

चपरासी ने चुपचाप पाँच का नोट पेटी में ठूस लिया और दफ़्तर के अन्दर चला गया।

बूढ़ा चपरासी हँस कर बोला : “देख लिया ? अब जा, कर दवाई अपने भाई की। इससे भी गया। कहा शराबी-कबाबी से पैसे वसूल नहीं होते।”

और वह भी दफ्तर की ओर धूम गया ।

उनके चले जाने पर ग्रामीण जमीन पर बैठ गया और अपना सिर धुनने लगा । उधर बीमार एक बुत की तरह पेड़ के तने से पीठ टिकाये बैठा था । मैं उठ कर उनके पास चला गया ।

“तू समझे बैठा है कि यों तुझे पैसे मिल जायेंगे ?”

“मैं क्या जानूँ साहब, शहर में आकर यह बदल गया है । मुझे क्या मालूम था कि यों हैरान करेगा ?”

“कुछ लिखा-पढ़ी की है ?”

“नहीं साहब, लिखा-पढ़ी तो कोई नहीं की ।” फिर घबराहट और याचना भरे स्वर में बोला : “क्यों साहब, यह मेरे पैसे नहीं देगा ?”

मैं थोड़ी देर चुप रहा, और इस झमेले की तह तक पहुँचने की कोशिश करता रहा । फिर ग्रामीण से बोला :—

“मैं एक तरकीब बताऊँ ? तुझे तेरे पैसे मिल जायेंगे ।”

“बताओ बाबू”, वह हाथ बाँध कर बड़ी आतुरता से मेरे सामने खड़ा हो गया ।

“इसके अफसर से जा के शिकायत करो । वह डाँट-डपट से तेरे पैसे दिलवा देगा ।”

वह क्षण भर मेरे मुँह की ओर देखता रहा, फिर सहसा जीभ को दाँतों तले दबाते हुए, सिर हिलाकर बोला :—

“नहीं साहब, यों भी कभी हुआ है ? इससे इसकी क्या रह जायगी और मेरी क्या रह जायगी ? अपने गाँव का आदमी है ।”

और फिर दफ्तर के बाहर भाड़ियों और पौधों में से झाँक-झाँक कर अन्दर चपरासी को ढूँढ़ने लगा ।

पहला पाठ



ब्रह्मचारी देवव्रत की शिक्षा-दीक्षा पुस्तकों द्वारा कम और चाँटों द्वारा अधिक हुई थी। यों तो शायद सभी लोग ज़िन्दगी के सबक चाँटों द्वारा ही सीखते हैं, पुस्तकों और ज्ञान-गोष्ठियों द्वारा कम, पर जो शिक्षा ब्रह्मचारी देवव्रत को चाँटों द्वारा मिली, वह न केवल उसके मस्तिष्क में ही, बल्कि उसकी आत्मा पर भी अमिट छाप छोड़ गयी।

सब से पहली शिक्षा उसे हिन्दुत्वप्रेम की मिली; उस समय वह केवल आठ-नौ वर्ष का तरुण बालक था और अपने शहर के पास एक गुरुकुल का विद्यार्थी था।

×

×

×

वसन्त के दिन थे। शहर के स्कूलों में परीक्षा-परिणाम घोषित किये जा चुके थे; अध्यापकों पर पुष्पवर्षा हो चुकी थी, और शहर के विशाल धर्म-मन्दिर में वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था। हर रोज़ प्रातः गुरुकुल के सब ब्रह्मचारी, अपने संचालक के साथ, पीली धोतियाँ पहने, कतार बाँधे बौद्ध भिक्षुओं की पाँत की तरह शहर में लाये जाते, और धर्ममन्दिर में सायंकाल तक धर्मोपदेशों, भजनों तथा खेल-कूद का रस लेते। तीन दिन से यही चल रहा था और ब्रह्मचारी देवव्रत की खुशी का ठिकाना न था। विधाता ने उसे दो प्यासी, उत्सुक आँखें दे रखी थीं जो हर वस्तु पर, हर चमकीली चीज़ पर एक तृप्ति पक्षी की भाँति उड़-उड़कर जाती थीं, और देवव्रत उन्हें देखते न थकता था।

सायंकाल का समय था। धर्ममन्दिर का मैदान श्रोताओं की भीड़ से खचाखच भरा हुआ था। स्त्रियाँ, पुरुष, बच्चे, शहर भर के लोग, उत्सव के अन्तिम व्याख्यान का रस ले रहे थे। व्याख्यान मैजिक

लैन्टर्न के रंगीन चित्रों द्वारा दिया जा रहा था, और उपदेशक गुरुकुल के ही संचालक, वृद्ध वानप्रस्थीजी थे। इसी भीड़ में अन्य ब्रह्मचारियों के साथ सटकर बैठा हुआ देवव्रत भी मन्त्र-मुग्ध की भाँति मैजिक लैन्टर्न के चित्र देख रहा था। व्याख्यान अछूतोद्धार के विषय पर था, और वानप्रस्थीजी बड़े भावुक कण्ठ से अछूतों की दीनहीन दशा का वर्णन कर रहे थे।

पर्दे पर एक रंगीन चित्र आया। एक कुआँ है, और उसपर लोग पानी भर रहे हैं। एक लड़की, हरे रंग की धोती पहने, पानी का डोल हाथ में उठाये, श्वेतवसन तिलकधारी ब्राह्मण को पानी पिला रही है। और कुएँ से हटकर कुछ दूरी पर एक बूढ़ा, हड्डियों का ढाँचा, हाथ बाँधे खड़ा है और तरसती आँखों से पानी की ओर देखे जा रहा है।

“यह जानते हैं आप, कौन है?” वानप्रस्थीजी अपने लट्ठ के कोने से बूढ़े को दिखाते हुए कह रहे थे: “यह एक डोम है, इस डोम को कुएँ पर पानी पीने का अधिकार नहीं। यहाँ ब्राह्मण पानी पी सकता है, पर डोम नहीं पी सकता, क्योंकि वह अछूत है। लाखों ऐसे डोम गाँवों में रहते हैं, पर गाँवों के कुओं पर उनकी छाया भी नहीं पड़ सकती।”

नन्हें देवव्रत का हृदय अनजाने में पसीज उठा। उसने सोचा: तो फिर यह पानी कहाँ से पीते हैं? क्या यह बूढ़ा पानी नहीं पीता, इसी-लिए इसकी हड्डियाँ निकल आयी हैं!

वानप्रस्थी जी उत्तेजित आवाज़ में कह रहे थे:

“यह ताल-तलैयाँ, डाबरों-पोखरों के गढ़े पानी पर निर्वाह करते हैं। गरमी के मौसम में जब ये जलाशय सूख जाते हैं, तो यह अभागे इन कुओं के पास चक्कर काटते रहते हैं, इस कुएँ पर कुत्ते पानी पी सकते हैं, पशुओं को पानी मिल सकता है, पर मनुष्य को नहीं।”

वानप्रस्थीजी ने अपनी लाठी बूढ़े पर से हटा कर, कुएँ की बगल में खड़े एक चितकबरे कुत्ते पर रखी जो जीभ निकाले, कुएँ की नाली पर झुका हुआ था।

“यह भ्रष्ट कुत्ता, भक्ष्य और अभक्ष्य पर मुँह मारने वाला, इस कुएँ पर अतिथि बनके आ सकता है, पर यहाँ इनसान के बेटे को पानी की एक बूँद भी नसीब नहीं।”

धीरे-धीरे देवव्रत की आँखें कुत्ते पर से हटकर फिर बूढ़े पर आ गयीं। अछूत कौन होते हैं? क्या सब बूढ़े, फटे कपड़ों वाले अछूत होते हैं? अछूतों को पानी क्यों नहीं मिलता? देवव्रत ने कभी अछूत नहीं देखा था। बूढ़े को देखकर उसने सोचा : इस जैसे आदमी तो मैंने बहुत देखे हैं, क्या सबके सब अछूत होते हैं?

X

X

X

इसी तरह एक और चित्र सामने आया : एक सड़क है साफ-सुथरी, उसके दोनों तरफ हरे-हरे वृक्ष हैं। उस पर भी एक तिलकधारी ब्राह्मण चले आ रहे हैं, और सड़क से हटकर झाड़ियों में खड़ा एक अछूत, हाथ बाँधे, दीन-हीन, याचना करता हुआ खड़ा है। देवव्रत के हृदय में उसके प्रति भी सहानुभूति उमड़ आयी। मगर यह बूढ़ा न था, जवान था, और इसके साथ एक छोटा-सा नंगा बालक भी खड़ा था।

वानप्रस्थीजी कह रहे थे :—

“इस सड़क पर कोई अछूत नहीं चल सकता। यदि किसी अछूत का साया भी पड़ जाये तो सड़क भ्रष्ट हो जाती है। यह ब्राह्मण अपनी छड़ी उठाये, इस आदमी को कोस रहा है : दूर हो जाओ, यहाँ से हट जाओ।”

वानप्रस्थीजी के व्याख्यान की भाषा कठिन थी। उसका बहुत-सा भाग देवव्रत की समझ में न आता था। पर तो भी उसके दिल में अछूतों के प्रति एक अस्पष्ट, धूमिल; पर गहरी भावना उठने लगी।

X

X

X

एक के बाद दूसरे चित्र सामने आते गये। एक से एक रंगीन, रुचिपूर्ण, आकर्षक। हर एक में एक न एक अछूत था, कहीं कोई स्त्री

फटे-पुराने कपड़े पहने, कहीं कोई पुरुष, कहीं कोई लड़का। सब पर अत्याचार होता था, कोई उन्हें छूता न था, कोई बात न पूछता था, सभी दुतकारते थे, सभी कहते : दूर हो जाओ, हट जाओ। देवव्रत बड़ी देर तक तन्मयहोकर इन चित्रों को देखता रहा।

आखिर उपदेश समाप्त हुआ। बत्तियाँ जग गयीं और चित्रों की दुनिया न मालूम कहाँ पर विलीन हो गयी। ब्रह्मचारी देवव्रत आँखें मलता हुआ उठ खड़ा हुआ और अपने संगी-साथियों के साथ जाकर खड़ा हो गया। धीरे-धीरे मैदान खाली होने लगा, स्त्री-पुरुषों की भीड़ बिखरने लगी, वानप्रस्थीजी भी अपना माथा पोंछते हुए, लट्टु संभाले ब्रह्मचारियों के झुंड के पास आ गये, ब्रह्मचारियों ने फिर क्रतार बाँध ली और मन्दिर से धीरे-धीरे बाहर जाने लगे।

वानप्रस्थीजी गुरुकुल के संचालक भी थे, धर्मोपदेशक भी और लड़कों के अध्यापक भी। ब्रह्मचारियों की पाँत के आगे-आगे, सफ़ेद बाना पहने हुए, हाथ में लट्टु उठाये वह धीरे-धीरे चलने लगे, जंसे मुर्गी अपने चूजों के संरक्षण के लिए चलती है और पंक्ति में सब से पीछे। रोज़ की तरह, ब्रह्मचारी देवव्रत, डोलते लट्टू की तरह पाँव पर लड़खड़ाता हुआ, पंक्ति से कभी पिछड़ता, कभी मिलता जा रहा था। पर उसके मस्तिष्क में, अर्धविस्मृत याद की तरह, अब भी वह चित्र घूम रहे थे। बूढ़ा प्यासा अछूत जो कुएँ पर पानी माँग रहा था; जो सड़क के किनारे त्रस्त खड़ा था; जो अछूत लड़का जूठन के पास भूखा खड़ा था।

और यहीं पर लरुण बालक देवव्रत को सामाजिक शिक्षा का पहला सबक मिला।

×

×

×

मन्दिर से निकलकर ब्रह्मचारी एक खुले-लम्बे बाज़ार में आ गये, जिसके दूसरे सिरे पर से एक रास्ता अलग होकर गुरुकुल की ओर जाता था। बाज़ार में रौनक थी, दुकानों पर बत्तियाँ जल रही थीं।

सलानी इधर-उधर घूम रहे थे, जिन्हें देखकर ब्रह्मचारी लड़के भी कुतूहलवश चारों ओर रौनक को देखने लगे ।

बाज़ार में एक जगह पर, फलों की दूकानों के पास एक छोटा-सा पुल था, जिसके नीचे शहर का गन्दा नाला बहता था । यहाँ पर रोशनी बाज़ार से कुछ कम थी, केवल दो रोशनी के खम्भे पुल के आरपार खड़े थे, पर आमदोरपत का ताँता यहाँ पर भी काफ़ी घना था ।

अभी पुल पर ब्रह्मचारियों की कतार पहुंची ही होगी जब देवव्रत को सामने रोशनी के खम्भे के नीचे खड़ा एक धूमिल-सा आकार नज़र आया : कोई उसी की उमर का ग़रीब लड़का बदन पर मैली-सी बनियान पहने, मुँह में उंगली दबाये खड़ा ब्रह्मचारियों की पंक्ति को देखे जा रहा था । देवव्रत ने उसे देखा और वह उसे मैजिक लैन्टर्न के चित्रों जैसा ही लगा, वही दीनहीन चेहरा, वही उत्सुक तरसी हुई आँखें, वही नग्न दरिद्रता । उस वक्त न मालूम किस भावावेश में—वानप्रस्थीजी को खुश करने के लिए, या अपने भावोद्रेक से बेकाबू होकर—देवव्रत पंक्ति से हट गया और उस लड़के के सामने जाकर खड़ा हो गया, और दूसरे ही क्षण उसके बाजू पर अपनी उंगली रखकर उसे छू लिया । इससे उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया । फिर उसने बड़े आग्रह से लड़के के कंधे पर हाथ रख दिया । वह लड़का बड़े विस्मय और कौतूहल से उसके मुँह को देखे जा रहा था । फिर सहसा देवव्रत ने दोनों बाहें फैलाकर उसे अपने आलिंगन में ले लिया और बड़े स्नेह से कहने लगा :—

“तू मेरा भाई है, तू अछूत है न, तू मेरा भाई है ।”

पर पेश्तर इसके कि वह लड़का इसके उत्तर में कुछ कहता, देवव्रत के सिर पर जोर से किसी ने तमाचा दे मारा, और नन्हा देवव्रत हड़बड़ा के अलग हो गया । उसका सिर चकरा गया और वह हतबुद्धि इधर-उधर देखने लगा । उसने देखा कि उसके ऐन पीछे वानप्रस्थीजी अपना लट्ट उठाये खड़े हैं, और अपनी क्रुद्ध लाल आँखों से उसे देखे

जा रहे हैं।

देवव्रत को सहसा पंक्ति की याद आयी, फिर उस लड़के की ओर इशारा करते हुए, रुआँसी पर गर्व-पूर्ण आवाज़ में बोला :—

“आचार्यजी, यह अच्छूत है, यह मेरा भाई है।”

और देवव्रत ने फिर गर्व से सिर ऊँचा कर लिया। उसे विश्वास था कि वानप्रस्थीजी पंक्ति तोड़ने का दोष अच्छूतोद्धार होता देखकर क्षमा कर देंगे।

पर वानप्रस्थीजी ने एक सीधा तमाचा देवव्रत के मुँह पर और रसीद किया, जिससे देवव्रत की सारी देह काँप उठी :—

“यह अच्छूत है ? यह तुझे अच्छूत नज़र आता है ? यह तो मुसलमान है !”

और नन्हे देवव्रत की उद्भ्रांत त्रस्त आँखें, कभी वानप्रस्थीजी को और कभी उस हमजोली गरीब लड़के को देखती रह गईं।



प्रणय-लीला



यह भी अनोखा प्रेम था । न सुषमा को इसकी ख़बर, न अशोक को । कालिज बन्द हुआ तो पुराने सहपाठी होने के नाते, अशोक ने सुषमा की किताब लौटाते हुए कहा :—

“मैं छुट्टियों में घर जा रहा हूँ । मैंने सोचा किताब यहीं पर लौटा दूँ, नहीं तो तुम्हारे होस्टल जाना पड़ेगा ।”

“तो होस्टल आते तेरे पांव की मेंहदी उतर जाती है ? नहीं लेती मैं यह किताब । जो देनी हो तो वहीं पहुँचाना ।”

“लेनी हो तो ले लो । नहीं तो मैं दूंगा भी नहीं ।”

“मत दो ।”

“अच्छा ले, तेरे पर रहम किया ।...तू घर कब जाएगी ?”

“मैं भी आज ही जाऊँगी । मगर शान्ता की चिट्ठी आई है कि हमारे यहां चली आओ, तीन चार रोज ठहर कर घर चली जाना । सोचती हूँ जाऊँ या न जाऊँ ।

“जाओ, क्यों नहीं जातीं ?”

“सुनो ।” सुषमा ने ऐनक में से अपनी हल्की काली आंखें उठाते हुए कहा, “तुम भी चलो । दो तीन दिन वहां ठहरेंगे, फिर तुम घर चले जाना, मैं अपने घर । दो दिन छुट्टी मनाएंगे ।”

“मैं वहां क्या करूँगा ? बुलाया तुम्हें है, मैं क्यों जाऊँ ?”

“वाह, शान्ता मेरी तो सहेली है, तेरी तो मौसी की लड़की है । चल पगले, दो दिन सैर करेंगे ।”

“चल तो चल ।” अशोक ने डींग मारते हुए कहा ।

“सच ?”

“हाँ सच नहीं तो क्या ? अगर शान्ता ने कहा कि इसे क्यों साध ले आई तो क्या कहेगी ?”

“कहूँगी क्या ? वह तुझे घर से निकाल थोड़े देगी ?

बात की बात में सलाह पक्की हो गई ।

जब अशोक टांगे पर अपनी सफ़ेद कमीज और ग्रे पतलून पहने और सामान रखे उसके होस्टल की ओर चला तो उसके दिल में न केवल छुट्टियों की खुशी थी, बल्कि एक नये साहस का उल्लास भी था, जैसे वह कोई अनोखी बात करने जा रहा हो । उसने जेब में से पिता की चिट्ठी निकाल कर खोली, और पढ़ कर, फिर सिर हिला कर जेब में डाल ली ।

“चले जाएंगे । भाई की सगाई ही है, ब्याह तो नहीं । और अभी हफ़ता भर पड़ा है ।”

उसे पहली बार पिता के ख़त की यूँ अवहेलना करते हुए एक नये शौर्य का अनुभव हुआ, “चले जाएंगे, जल्दी क्या है ।”

लड़कियों के होस्टल के सामने वह कूद कर टांगे पर से उतरा । सुषमा पहले से होस्टल के बराण्डे में खड़ी, एक छोटा-सा बिस्तर पास रख, उसकी राह देख रही थी । छोटा-सा कद, कटे हुए बाल, जितनी छोटी खुद, उतना ही छोटा-सा बिस्तर ।

अशोक ने बिस्तर टांगे पर टिकाया तो सुषमा की नज़र अशोक की कमीज पर पड़ी ।

“तेरे कफ़-बटन कहाँ हैं ? बाजू यूँ लटक रहे हैं जैसे भाई की कमीज पहन आया हो ।”

अशोक खिसिया गया ।

“हां, है तो भाई की । तूने कैसे जाना ?”

“पगले, बाजू तो देख, कितने लम्बे हैं । कफ़-बटन नहीं तेरे पास ?”

“नहीं ।”

सुषमा हँसी । फिर बराण्डे की ओर वापिस भागती हुई बोली :—

“ठहर आती हूँ।” और उसका छोटा-सा कद होस्टल की ऊँची २ दीवारों के पीछे ओझल हो गया। जब लौटी तो दाँतों में सुई दबाए हुए, दोनों हाथों में धागे को खोलती हुई।

टांगा स्टेशन की ओर चला, तो टांगे की पिछली सीट पर अशोक के साथ बैठी सुषमा उसकी कमीज को टांका लगाने लगी।

“तुम्हें तेरे भाई की सब चीजें पहननी पड़ती हैं ? बेचारा !” और बार बार हँसने लगती।

“चल छोड़, लोग देखेंगे तो हँसेंगे। वह देख, वह औरत खड़ी देख रही है।”

“हँसने दे।” और सुषमा टांगे के ऊबड़-खाबड़ हिचकोलों में हँसती मजाक करती, कमीज को टांका लगाती रही। और अशोक का जो फिर एक विशेष शौर्य से चटकी ले उठा : जैसे विलायत में लड़के लड़कियाँ इकट्ठे छट्टी मनाने जाते हैं, वह भी जा रहा था !

गाड़ी में दोनों हँसते, गाते, खेलते रहे। कहीं फल, कहीं चाट, कहीं अशोक चलनी गाड़ी पर कूद कर चढ़ता। एक बूढ़ा मुसाफिर पहले उनकी अठखेलियाँ देखता रहा, फिर बोला :—

“कहाँ जा रहे हो ? भाई बहन हो ?”

इस पर अशोक का साहम तो भटक गया, मगर सुषमा मुँह पर रुमाल रख कर हँसने लगी। फिर अशोक, कुछ साहस बटोरकर बोला :—

“जी, यह मंत्री मौसी की लड़की है।”

इस पर सुषमा ठहाका मार कर हँस पड़ी, और वृद्ध अपनी मूर्खों में खिसिया कर चुप हो गया।

दो घण्टे के बाद जब गाड़ी हमीरे पहुँची, तो शान्ता, अशोक और सुषमा को एक साथ देख कर तनिक भी हैरान नहीं हुई। बोली :—

“लुगड़, तू भी आ गया है ? मैंने तो सिरफ़ इसे ही बुलाया था।”

“मैं कहां आने वाला था, यह मुझे खींच लाई है।”

“में खींच लाई ? कहता था मुझे भी ले चल, इन्कार कैसे करती ।”

छुट्टियाँ शुरू हुईं । पहले रोज़ बारह अण्डे एक साथ बने । दिन को ग्रामोफोन पर एक ही रिकार्ड बीसियों बार बजाया गया । शान्ता का पति हमीरे में एक फैंकटरी का मैनेजर था । रूतबे में बड़ा, उमर में छोटा और दिल का हँसोड़ था । चारों में खूब पटने लगी । जब हँसते तो चारों लोट-पोट हो जाते । उसके साफ़ सुथरे क्वार्टर के बाहर कमाद के खेत थे । एक तरफ़ कमाद, दूसरी तरफ़ सरसों, पीछे दूर नीली नीली पहाड़ियाँ । और मार्च महीने की हल्की ठण्डी हवा सारा वक्त बहती, बाल उड़ाती रहती । दोपहर को कमाद के खेत में से गन्ने मँगवाये गये, चारों ने धूप में बैठ कर चूसे । और छुट्टी का पहला दिन हँसी-खेल में यूँ बीत गया ।

दूसरे दिन सुबह, अभी अशोक बराण्डे में सो ही रहा था कि सुषमा ने लोटा पानी का उसके मुँह पर उँडेल दिया और खिलखिला कर हँस पड़ी । और फिर, जब वह हड़बड़ा कर उठा और एक पूरी बाल्टी उठा कर सुषमा के पीछे भागा और घंटा भर भागने और हाँपने के बाद उस पर सारी बाल्टी उँडेल पाया, तो उसका दिल कुछ कचोच गया । दूसरी छुट्टी शुरू हुई । घर का सारा फर्श धुल गया, हँसी से सारा घर गूँजने लगा, और चारों के कपड़े तर हो गये । फिर जब शान्ता का पति दफ्तर चला गया और शान्ता अपने बाल निचोड़ कपड़े बदल कर चौके में चली गई तो सुषमा अशोक का सूटकेस चारपाई के नीचे से खींच लाई :—

“कोई और भी कमीज साथ लाया है या भाई ने एक ही कमीज दी थी ?”

“चल हट !”

सुषमा ने हँसते हुए अशोक का सूटकेस खोल दिया और उसमें से कमीज ढूँढने लगी । यहाँ दो तीन कपड़ों के अलावा और कुछ रखा

न था। इनके नीचे एक सफेद कमीज़ जैसे छिपी पड़ी थी।

“मिल गई एक और तेरे भाई की कमीज़। सच कह तेरी है या तेरे भाई की?”

अशोक का मुँह लाल हो गया और वह बोला :—

“मेरे भाई की।”

“देखा ? मैंने कहा था न ? सुना शान्ता ?”

चौके में बैठी शान्ता भी खिलखिला कर हँस दी। और घर में फिर एक हँसी की गूँज दौड़ गई।

सुषमा ने कमीज़ निकाल ली और उसे भोली में रखते हुए, उसके कालर और कफ़ देखने लगी।

“पगले, जो लेनी भी थी तो बटन तो साथ लेता। भाई ने बटन उतार कर कमीज़ दी।”

और फिर सुई धागा लिये, अपने हाथों से उस पर बटन टाँकने लगी।

“मेरी हुई या मेरे भाई की हुई, हम दोनों पहन तो सकते हैं, तरे कपड़े कौन पहनेगा ?”

“इसीलिए मेरे कपड़े मेरे अपने होते हैं।” सुषमा बोली और दांतों से तागा काटती हुई हँसने लगी। उस वक्त पहली बार अशोक को उस की हँसी में एक हल्के से संगीत का आभास हुआ। उसके दांत छोटे २ मगर सफेद, एक लड़ी में पिरोये हुए से जान पड़े।

अशोक लपक कर कमीज़ छीनने लगा।

“दे दे मुझे, मैं खुद बटन लगा लूँगा।”

“एक तो लग भी गया। इसमें है ही क्या। चिन्ता न कर, मैं किसी को बताऊँगी नहीं कि तू भाई के उतरे हुए कपड़े पहनता है।”

अशोक को फिर सुषमा की हँसी में संगीत की आवाज़ आई। उसे वह बहुत भली लगने लगी।

इसके बाद छीना-भपटी शुरू हुई। सुषमा कमीज को गोद में दबाये, दोनों कोहनियाँ उस पर रखे झुक गई और अशोक उसे छीनने के लिये उस पर से सुषमा के बाजू खींचने लगा। सुषमा हँसती जाती और कमीज को छाती से चिपटाये जाती। अशोक कभी उसके एक बाजू को उठाता, कभी उसे धकेलने लगता, कभी दाएं से कभी बाएं से। थोड़ी देर बाद अशोक हाँपता हुआ, कमीज छोड़ कर अलग हो गया। वह सहसा शर्माने और संकोच करने लगा।

मगर जब सुषमा ने ठहाका मार कर कहा :—

“बस ले ली कमीज ?”

तो अशोक फिर उससे कमीज छीनने के लिये उलझ गया। उसके अंग अंग में एक अजीब आतुरता-सी आने लगी। बड़ी देर तक यह छीनाभपटी जारी रही।

इस ढंग से यह बात, यह प्रणय-लीला शुरू हुई। और देखते ही देखते अशोक की नज़रों में सुषमा का रूप बदलने लगा। जिसके ठिगने छोटे से कद को देखकर पहले दिमाग में मज़ाक घूम जाया करते थे, अब उस में एक नन्हीं सी सुबक कोमलता नज़र आने लगी। जिसके कटे हुए काले और मोटे बालों को सदा तेल की ज़रूरत रहा करती थी उनको अब जैसे सुबह की किरन छू गई हो। उड़ती हुई लट्टें कुण्डल दिखाने लगीं। अब जब हँसते हुए अशोक का हाथ कभी सुषमा के हाथ को छू लेता तो ऐसे जान पड़ता जैसे सुषमा के हाथ ने दिल को छू लिया हो। दस बरसों के परिचय में जो सुषमा केवल “नाटी इसाइन” और शान्ता की “निकृष्ट सहेली” बनी हुई थी, अब वह दो ही दिन में सौन्दर्य और प्रेम की सुगात प्रतिमा बन कर दिल के समीप आने लगी। अब उसका जी चाहता कि दोनों अकेले घूमने जाएँ और दिन भर खेतों में घूमते रहें। दूसरे लोगों का साथ होना उसे अखरने लगा। शाम के वक्त जब चारों सैर को निकले, और सुषमा चुन्नी कमर में बांधे और लाल कमीज और सफ़ेद सलवार पहने, चहकती हुई आगे-आगे

जाने लगी, तो अशोक की ज़बान चुप हो गई, आँखें सुषमा की काया पर सिमट आईं, और जी जैसे धड़कने लगा।

और अब छुट्टी की आखिरी शाम आ पहुँची थी। तीन दिन बीतते पता तक नहीं चले थे। गाड़ी छूटने में केवल दो तीन घण्टे की देर थी जब दोनों फिर अपने-अपने घर को, अलग-अलग दिशाओं में लौट जायँगे। अशोक की हँसी आज दोपहर से ही शान्त हो चुकी थी। मौन और उदास वह कमरे के फर्श पर लेटा हुआ सुषमा को इक टक देखे जा रहा था। सुषमा सामने पलंग पर गहरी नींद सो रही थी। जो कल वह यूँ सोई हुई होती तो वह उसे झटका देकर उठा देता, उसके मुँह पर पानी उड़ेल देता मगर आज दिल को अवसाद ने ढक लिया था। अब उसे उठाने की उसकी हिम्मत न हो रही थी। उसका सारा बदन बार-बार पुलकित हो उठता। उसका जी चाहता कि सुषमा आँखें खोले, और दोनों आपस में बातें करें। वह सुषमा से पूछे: “मुझे पर नाराज़ तो नहीं हो।” “छुट्टियों में ख़त लिखोगी?” “मुझे भूल तो नहीं जाओगी?” मगर सुषमा के जल्दी उठ जाने की कोई संभावना न थी। फर्श पर लेटा करवटें लेता हुआ अशोक सुषमा के व्यवहार में प्यार का अँकुर ढूँढ़ने लगा, वह मेरी कमीज़ को टाँकने क्यों लगी थी? जब मैं छीनता था तो उसे छाती से चिपटाये हुए थी, उसी ने मुझे यहाँ चले आने को कहा था, जब मैंने उसका हाथ छुआ तो उसने कुछ भी नहीं कहा, केवल मुस्कुरा दी। सुषमा के उठ जाने की कोई संभावना न देख कर, धीरे-धीरे इसी उधेड़-बुन में अशोक की भी आँख लग गई।

जब उसकी नींद टूटी तो उसे ऐसा भास हुआ जैसे कोई हल्के-हल्के उसके बाल छू रहा है। अशोक का रोम-रोम एक अगाध स्निग्ध भावना से प्लावित हो उठा, जैसे बसंत का पहला भोंका किसी बाग को सहला जाए। आतुर और अधीर वह फिर भी मौन साधे आँखें मूँदे पड़ा रहा इस डर से कहीं आँख खोल दी तो सुषमा हाथ न हटा ले। उसका सारा बदन बार-बार आशा की हिलोर से पुलकित हो उठता, जैसे उसके दिल

को मुराद पूरी हो गई हो। किसी-किसी वक्त कोई हल्का-सा स्पर्श उसकी आँखों को छू जाता। थोड़ी देर बाद सहसा उसकी आँखों पर और माथे पर कोई हल्की-सी चीज गिरी, फिर कानों पर, फिर दोबारा माथे पर।

अशोक ने आँखें खोल दीं। सामने सुषमा पलंग पर बैठी गुलाब के दो फूल हाथ में लिये उनकी पंखुड़ियाँ तोड़-तोड़ कर अशोक के बालों पर फेंक रही थी। अशोक उठने लगा।

सुषमा हँस पड़ी, नन्हीं सी संगीत भरी हँसी और भट से बोली:—

“तुम लेटे रहो, ऐसे मुझे अच्छा लगता है।”

अशोक का रोम-रोम फिर नाच उठा। उसका जी चाहा, उठकर सुषमा का हाथ पकड़ ले और दिल के सब उद्गार कह डाले। वह आँखें उठाये अनुराग भरी नज़रों से सुषमा के चेहरे को देखने लगा।

“जब तू यूँ सो रहा था तो तेरा चेहरा तेरे भाई से मिलता था। उस जैसी भवें, उस जैसी नाक.....।”

अशोक दिल ही दिल में झल्लाया। यह कौन-सा राग सुषमा ने छोड़ दिया। उसे फिर मज़ाक सूझ रहा है। यह वक्त क्या मज़ाक करने का है? अभी घण्टे भर में तो हम एक दूसरे से बिछुड़ जाएँगे। वह दिल की बात क्यों नहीं कहती? जानती नहीं कि मेरा दिल कैसा हो रहा है।

इतने में फिर सुषमा बोली—

“तू इसी तरह पड़ा रह। मुझे अच्छा लगता है।”

“क्यों मज़ाक करती हो सुषमा? क्या यह वक्त कोई मज़ाक करने का है?”

अशोक विरक्त-सा होकर उठ बैठा और एक-एक करके अपने बालों में से फूलों की पत्तियाँ हटाने लगा। सुषमा अब भी इकटक उसके चेहरे को देखे जा रही थी। और अशोक का दिल उसकी आग्रह-भरी नज़र को देखकर फिर बल्लियों उछलने लगा।

“एक बात बतायेगा अशोक? सच कह बतायेगा?” सुषमा ने

अत्यन्त धीमी आवाज़ में, अशोक की ओर झुक कर कहा ।

“क्या है सुषमा ? क्यों नहीं बताऊँगा ?” अशोक का दिल धड़कने लगा । सुषमा ने ज़रूर उसके दिल के डूबते उतरते उद्गारों की थाह पा ली है । वह क्या कहेगी ? वह अपने मन की बात साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती ? इतनी भिन्नकती क्यों है ?

“तेरा भाई क्या मुझ से नाराज़ है ? मेरे खतों का जवाब क्यों नहीं देता ? पहले तो इतने खत लिखता था !”

सुषमा इकटक अशोक को देख रही थी । फिर मुस्कुराते हुए कहने लगी :—

“इतना अभिमान भी क्या हुआ ! जाने से पहले तो इतने वादे करके गया था कि रोज़ खत लिखूँगा । क्या उसे इतना काम करना पड़ता है कि उसे खत लिखने की फुरसत नहीं ?”

अशोक को काठ मार गया । इस एक वाक्य की चुभन से उसका मुख पीला पड़ने लगा । वह अवाक् सुषमा के चेहरे की ओर देखने लगा जैसे अब भी मानी अनमानी करना चाहता हो । उसके रोम-रोम का स्पन्दन क्षण भर में निरुद्ध हो उठा । तो यह कमीजें टांकने, और मुँह पर फूल पत्तियाँ फेंकने और यह खेल कूद, सारा वक्त किसी दूसरे को ही लक्ष्य करके चल रही थी । मैं उसकी स्वप्न-क्रीड़ा का साधन मात्र बना हुआ था !

सुषमा अब भी बड़े आग्रह से, हाथों में गुलाब के अधनुचे फूल लिये उसके जवाब की इन्तज़ार कर रही थी । कहने लगी:—

“उसे बेशक कह देना जो उसने अब की चिट्ठी न लिखी तो मैं भी नहीं लिखूँगी । मुझ से तो बार-बार लिखने को कहता था अब खुद नहीं लिखता ।”

इस दोहराये गये वाक्य ने अशोक की व्यथित आशाओं को फिर से मसल दिया । वह मन ही मन क्षुब्ध हो उठा । जैसे उसके साथ खिल-

बाड़ हो रहा हो ।

“तू बोलता क्यों नहीं अशोक, बात क्या है ?”

अशोक ने उसके चेहरे की ओर देखा । सुषमा उसके उत्तर की प्रतीक्षा में एक-एक क्षण गिन रही जान पड़ती थी । क्षणभर के लिए वह ठिठक गया । सुषमा की आँखें कितनी आतुर कितनी आग्रह भरी थीं । मगर वह आग्रह उसके लिए न था । उसके लिए तो शायद सुषमा के दिल में अवेहलना ही थी । वह एक आहत प्राणी की तरह जैसे छटपटा कर बोल उठा :

“भाई की तो सगाई होने जा रही है । इतवार को सगाई है । क्या तुम नहीं जानती ? वह अब तुम्हें ख़त नहीं लिखेगा ।”

सुषमा के हाथ कांप गए । और अशोक के देखते ही देखते सुषमा का चेहरा भी पीला पड़ने लगा । उसके सारे शरीर में व्याकुलता की कम्पन दौड़ गई । उसके होंठ क्षण भर के लिए फड़फड़ाए और फिर चुप हो गये ।

और दोनों हतप्रभ, एक दूसरे को देखने लग ।



६

पहिचान

◆◆◆◆◆

कई बार किसी आदमी का पूरा परिचय पाने में बरसों लग जाते हैं, और बरसों के बाद भी आप को यकीन नहीं होता कि आप उसे पूरी तरह जान पाये हैं या नहीं। मुझे भी एक ऐसा ही विचित्र अनुभव एक स्त्री के सम्बन्ध में हुआ। दो बरस में मैं उमे शायद कुछ-कुछ जान पाया था, मगर अब सोचना हूँ कि वह पहिचान भी एकदम अधूरी थी।

लगभग पाँच बरस पहले की बात है। मैं अम्बाला छावनी में रहा करता था। अब तो अम्बाला बदल गया है, आबादी बढ़ गई है, और सड़कों पर रौनक दिखाई देती है। मगर उन दिनों उसकी सपाट लम्बी सड़कों पर केवल फ़ौजी ही घूमते हुए नज़र आया करते थे और रात के आठ बजते ही छावनी पर सन्नाटा छा जाया करता था।

इसी अम्बाला में एक औरत रहा करती थी, जो अक्सर बगल में हरे रंग की फ़ाइल दबाये घूमती नज़र आती थी। लम्बा ऊँचा कद, सफ़ेद धुले हुए कपड़े, सीधी चाल और बगल में फाइल। कई लोगों की विलक्षणता उनकी ग़क़ल-सूरत में होती है, कइयों की वेशभूषा में, मगर उस औरत की विलक्षणता उसके ऊँचे कद और इस हरी फ़ाइल में थी। यों न वह युवा थी, न सुन्दरी। जिस वक़्त मैंने उसे देखा था, उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की होगी।

उस औरत को चिट्ठियाँ लिखवाने का जन्म था। छावनी में शायद ही कोई ऐसा बाबू होगा जिससे एक आध चिट्ठी न लिखवाई हो। खुद वह अनपढ़ थी, एक अक्षर भी न जानती थी, मगर चिट्ठियाँ लिखवाती, और हर चिट्ठी की नक़ल बड़ी तरतीब से फ़ाइल में लगा लेती।

यह जरूर अनोखी बात थी, मगर इससे भी अनोखी बात यह थी कि बड़े-बड़े अफसरों की कोठियों में वह बेधड़क चली जाती। मैंने खुद उसे ब्रिगेडियर, कर्नल और एरिया कमाण्डर के घरों में से निकलते देखा था। जरूरी बात है कि जो स्त्री इस कदर आज़ाद और निडर होकर घूमती हो, उसके बारे में तरह-तरह की बातें उठेंगी। कोई कहता सिफारिशी चिट्ठियाँ लेने जाती है, कोई कहता अपनी जवान बेटियों की कमाई खाती है, कोई कहता यह किसी अमीर आदमी की तीसरी बीवी थी, किसी गाँव से खरीद कर लाई हुई, और यहाँ अब फौजी हस्पताल में मामूली सफाई के काम पर नौकर है। इन किंवदन्तियों के कारण बाबू लोग उससे सचेत रहते थे। अफसरों के डर से चिट्ठियाँ तो लिख देते, मगर इससे ज्यादा कोई उससे सरोकार न रखता। मेरा भी उससे परिचय हुआ, मैंने भी उसकी कुछ चिट्ठियाँ लिखीं, और मैं भी लोगों के कहे पर उससे सावधान रहने लगा। शहर के बड़े गिरजे के पीछे जहाँ मैं रहता था, उससे थोड़ा हटकर मंदान के पार पेड़ों के झुरमुट के पीछे, एक ओवरसीयर के अहाते में उसका क्वार्टर था।

गर्मियों की एक रात थी। हम क्वार्टरों के सामने अपनी खाट बिछाये सो रहे थे। अकस्मात् गहरी रात गये, किसी के ऊँचा-ऊँचा चिल्लाने की आवाज़ें आने लगीं। हम सब उठ बैठे और यह शोर सुनने लगे। आवाज़ें ओवरसीयर के बंगले की तरफ़ से आ रही थीं। कुछ लोग तो यह कहकर फिर सो गये कि यह उसी आवारा औरत के घर का कोई झगड़ा है, मगर दो एक व्यक्ति अपना कौतुहल मिटाने के लिये, लाठियाँ उठाये, उस तरफ़ चल पड़े। मैं भी साथ हो लिया।

आवाज़ें सचमुच उसी के घर से आई थीं। जब हम वहाँ पहुँचे तो वह औरत हाथ हिला-हिला कर कह रही थी—

“मैं एक-एक को दुश्स्त करूँगी—मैं एक-एक को जानती हूँ! मैं सबको पहचानती हूँ? मैं कल ही कर्नल साहब को चिट्ठी

लिखवाऊंगी।”

उस वक्त भी चिट्ठी ! हम मन ही मन हँसे ।

चारों ओर अँधेरा था केवल उसके छोटे से क्वार्टर के सामने बत्ती के नीचे यह औरत अपने सामने खड़ी हुई बेटी को हाथ हिला-हिला कर यह सुना रही थी । क्वार्टर के सामने तीन चार खाट बिछी थीं जिनमें से एक पर उसकी लड़की और दूसरी पर एक ६-१० बरस का बालक चुपचाप घबराये से बैठे थे ।

हमें देखते ही वह हमारे पास चली आई और ऊँचे स्वर में मुझ से कहने लगी—

“वीर जी, देखा तुमने, यह भी कोई हाल है !”

मालूम हुआ कि यह औरत अपने परिवार सहित क्वार्टर के बाहर सोई हुई थी, कुछ फौजी लोग रात का शो देखकर सिनेमाघर से लौटे और शराब के नशे में पहले आवाजें कसने लगे और फिर नज़दीक आकर परिवार पर कंकर-पत्थर फेंकने लगे । मगर जब यह चिल्लाई और गालियाँ देती हुई उनके पीछे दौड़ी, तो वे वहाँ से भाग गये ।

मैं पहले भी हैरान था कि औरत किस प्रकार इस अलग-थलग छावनी में आकर टिकी हुई है । अब मेरे मन में भी सन्देह पैदा हुआ । अगर फौजी आज आये हैं तो शायद पहले भी आते होंगे । आखिर फौजी हर घर पर आवाजें नहीं कसते । मैंने उसकी बड़ी लड़की को भी देखा । साधारण-सी लड़की जान पड़ी, मगर कुछ निश्चय न कर पाया कि वहाँ भी बनावटी क्या है और असल क्या । सबसे अचम्भे की बात यह थी कि ओवरसीयर के बँगले में से कोई भी उठ कर औरत की मदद को न आया था ।

हम लौट आये, मगर दूसरे ही रोज़ वह अपनी हरी फाइल उठाये, मेरे घर आ धमकी । कहने लगी, कर्नल रघुवीरसिंह के नाम अरज़ी लिख दो । मैं उसके मामलों से दूर रहना चाहता था । मैंने बहुत आनाकानी की मगर आखिर मैं खत लिख दिया । उसने सारा खत

ऐन बाकायदा मुझ से लिखवाया। पाँच आदमियों की शिकायत की, एक-एक का नाम, रैंक और कम्पनी लिखवाई। साथ ही अपनी स्थिति का रोना-धोना लिखा, और उन्हें सज़ा दिलाने की तलब की और साथ ही यह भी लिखवाया कि जो उन्हें सज़ा न हुई तो सरकार बदनाम होगी और मैं ब्रिगेडियर साहब तक फ़रियाद लेकर जाऊँगी।

तीन-चार रोज़ बाद वह फिर आ पहुँची और वैसे ही एक और चिट्ठी लिखवाई। उसके बाद मामला शांत हो गया। फिर महीनों बीत गये और वह मेरे मकान पर नहीं आई। मैंने सोचा, उसे जवाब मिल गया होगा, या मुमकिन है किसी दूसरे से चिट्ठियाँ लिखवाती फिरती हो।

इस घटना के शायद दो-तीन महीने बाद की बात होगी कि मैं फिर उसके झमेले में आ फँसा। और जो कुछ हुआ, उसकी मुझे तनिक भी आशा न थी।

एक रोज़ सुबह, अभी पौ भी न फटी थी कि वह मेरे घर आ पहुँची। यों भी उसके आने का कोई वक़्त नहीं था। उसे देखते ही मैं असमंजस में पड़ गया कि अब करूँ तो क्या करूँ। उन दिनों मैं अकेला था। श्रीमती मायके गई हुई थीं। सुबह होते होते यह घर के बाहर निकलेगी तो साथ वाले बाबू क्या कहेंगे। मेरे प्राण सूख गये कि एकाएक वह अन्दर चली आई। आँखों में काजल लगाये और लाल दुपट्टा ओढ़े। उसी तरह तेज़ कदम, हाँपती साँस लेती हुई और हाथ हिलाती हुई। अन्दर आकर वह हँसने-मुसकाने लगी। वह औरत देखने में बुरी न थी। किसी ज़माने में उसने ज़रूर उस बूढ़े रईस का दिल अपनी भावभंगिमा से गरमाया होगा। मगर उसे अपने घर में देखकर मेरा पसीना छूट रहा था। मैं सोच रहा था कि जब यह क्वार्टर से बाहर निकलेगी, तो मेरा क्या बनेगा। पर वह हँस कर, दुपट्टे का छोर होठों पर रखती हुई बोली—

“बीर जी, तुम तो मिलने से भी रहे। इसी से मैं सुबह सबेरे तेरे घर चली आई। मैंने सोचा, देर हो गई, तो तुम कहीं निकल जाओगे।”

“बात क्या है ?” मैंने रुखाईसे पूछा ।

“आज मेरी बेटी का ब्याह है । धीर जी, आठ बजे आनन्द-कारज होगा । मेरा यहाँ कौन है ? तुम जरूर आना । तुम ही आकर कन्या-दान करोगे ।”

मेरी जान में जान आई । उसके बाद वह बार-बार आने का अनुरोध करती हुई उठी और हँसती हुई बाहर चली गई ।

वह तो चली गई, मगर मैंने निश्चय कर लिया कि मैं इस ब्याह पर नहीं जाऊंगा । मगर आठ बजते-बजते मैं दुर्विधा में पड़ गया । मुझे ख्याल आया कि अगर नहीं जाना था, तो पहले ही उसे कह देना चाहिए था । और फिर वहाँ जाने कौन-सा पहाड़ मुझ पर टूट पड़ेगा ? खर आठ बजते-बजते मैं उसके घर जा पहुँचा । और उम रोज मैंने उसका जो रूप देखा, वह मैं आज तक भूल नहीं पाया । जो कुछ मैंने देखा, उससे मेरे मन में उस औरत के प्रति आदर फूट पड़ा ।

मैं ठीक आठ बजे उसके क्वार्टर पर पहुँच गया था । मगर वहाँ एक भी आदमी नहीं था । क्वार्टर के बाहर जमीन पर दो छोटी-छोटी फटी पुरानी दरियाँ बिछी थीं, और एक ओर तौलिए से ढकी हुई एक पीतल की परात रक्खी थी ! बस ! पानी का छिड़काव तक न हुआ था ।

मैं अभी वहाँ खड़ा ही हुआ था कि अन्दर से ऊँचा-ऊँचा गाने की आवाज़ आई—“कन्हैया जी आ वड़ियों साड़ वेहड़े ।” मैंने आवाज़ पहचान ली । यह वही औरत गा रही थी । मुझे देखते ही वह दौड़ी-दौड़ी बाहर चली आई और मेरा हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई । सच मानिये, इतना गरीब ब्याह मैंने उमर भर में और कभी नहीं देखा था । कमरे के एक कोने में उसकी बेटी, गाढ़े की लाल ओढ़नी ओढ़े, एक टिमटिमाते दिये के सामने चुपचाप झुकी हुई बैठी थी और छोटा भाई कभी दुल्हन की पीठ पर चढ़ बैठा और कभी-जहाँ माँ जाती, उसके पीछे हो लेता ।

मगर यह औरत वहाँ इस तरह घूम रही थी, जैसे रिश्ते के

बीसियों आदमी वहाँ आये हुए हों और उसे पसीना पोछने की भी फुर्त न हो। कभी सुहाग के गीत गाती, कभी बेटी से हँसी-मजाक करती, कभी गाती हुई अपनी बीमार दूसरी बेटी के बाल गूँथने लगती। चारपाई के नीचे टीन का एक ट्रंक रक्खा था। उसे वह मेरे सामने खींच कर निकाल लाई और खोलकर कहने लगी, “देखो वीर जी, बेटी के लिये मैंने पीली साटन का सूट बनवाया है। सारे शहर में इस रंग की साटन नहीं मिलती। यह दोहरा खेस है ! यह दरी जेलखाने की बनी है ! बीस बरस तक नहीं फटेगी। यह सब बेटी का दहेज है !”

मैंने सुन रखा था कि जब उस औरत का अपना ब्याह हुआ था, तो घर में तीन रात तक मुजरा हुआ था और शहर के छोटे-बड़े टूट पड़े थे। बेटी का यह दहेज देखकर मेरा जी भर आया।

इतने में लड़का भागता हुआ अन्दर आया और बोला कि बरात आ गई। हम लोग बाहर आये और देखा कि सचमुच बरात आई है ! मगर न बाजा, न फूल, न कोई चहल-पहल। चार बराती पैदल चलकर दरी पर आ खड़े हुए थे, और उनमें से एक नाटे कद का काला-सा आदमी, उजले कपड़े पहने, गले में हार लटकाये दूल्हा बना खड़ा था ! बस, यही बरात थी।

ब्याह हो गया। एक बूढ़े ग्रन्थी ने, जिसे बराती साथ लाये थे, आनन्द कारज करवाया। मैंने निःसंकोच कन्यादान किया, मुँह मीठा करने के लिये परात में से आटे का हलुआ बाँटा गया।

शादी की कोई रस्म न थी, जो उस औरत ने पूरी न की हो। यहां तक कि वर-वधू को इकट्ठा बिठाकर जो पहली शरारत भरी खेलें करते हैं वह भी उस औरत ने वर-वधू से करवाई ताकि बेटी के दिल में कोई श्रमान बाकी न रह जाय।

बरात लड़की को लेकर लौटने लगी। एक आदमी ने सिर पर ट्रंक उठाया और लड़की अपने पति के पीछे-पीछे धीरे-धीरे मैदान पार करने लगी। वह औरत अपने एक हाथ से मेरी कोहनी को पकड़े

चुपचाप यह सब देख रही थी कि एकाएक मैंने अनुभव किया कि उस स्त्री का हाथ सहसा काँपने लगा है। मैंने मुड़ कर देखा, उसकी आँखों से भर-भर आँसू बह रहे थे। सिसकते-सिसकते वह कहने लगी, “मैं बेचारी क्या जानूँ, क्या होगा वीर जी। लड़का पूरब का है, हम पंजाबी हैं। तुम्हें लड़का पसन्द है, वीर जी ?”

और जैसे पीपल का सूखा पत्ता काँपता है, वह औरत थर-थर काँप रही थी। जिस औरत के बारे में मैंने तरह-तरह की अफवाहें सुनी थीं, जो निर्भीक लोगों के घरों में घूमा करती, और एक राक्षसी की तरह चिल्लाती और गालियाँ देती फ़ौजियों के पीछे भाग खड़ी होती, उसका इतना कोमल हृदय होगा, यह देखकर मेरा हृदय उसके प्रति आदर से भर गया। मैंने देखा वह असहाय महिला न मालूम किन-किन मुसीबतों के सामने अपने परिवार को अपने परों के नीचे लिये बैठी है। मेरे सब सन्देह दूर हो गये और जो सान्त्वना मैं दे सकता था, देकर घर लौट आया।

मगर अचरज की बात ! जब घर पहुँचा तो मालूम हुआ कि यह दामाद वहीं शरूफ था जिसके खिलाफ़ महीना पहले उसने बिठियाँ लिखवाई थीं, वही जमादार राजासिंह था, वही शराबी, पत्थर फेंकने वाला फ़ौजी, जिसे यह छटी का दूध याद कराने की धमकी दे रही थी। मेरा मन शंकित हो उठा था और मैंने निश्चय कर लिया कि उसके साथ कोई सरोकार न रखूँगा।

मैंने ठीक ही किया। क्योंकि शादी के दो महीने भर बाद वह औरत पकड़ी गई और उसके साथ ही एक फ़ौजी अफ़सर भी पकड़ा गया। फ़ौजी अफ़सर मुअत्तल हो गया और उस औरत को २४ घंटे के अन्दर अम्बाला छोड़ देने का हुक्म हुआ। औरत पर चोरी का और अफ़सर पर रिश्वतखोरी का इल्जाम था।

मालूम हुआ कि शादी के फ़ौरन ही बाद उस लड़की के पति की

तब्दीली हो गई थी और वह दूर भांसी चला गया। लड़की उसके साथ गई थी। कुछ मुद्त बाद वे दोनों छुट्टी पर अम्बाला आये। अम्बाले की सड़कों पर पहले तो मां घूमती थी, अब बेटी भी नज़र आने लगी। शोख भड़कीले कपड़े पहने, लिपस्टिक, काजल और सुर्खी लगाये, ज़ेवर पहने। लोग कहते जमादार को उँगलियों पर नवा रही है। जब वापिस लौटे तो रास्ते में एक स्टेशन पर दुल्हन ने शोर मचाना शुरू कर दिया कि उसके ज़ेवर चोरी हो गये हैं। ट्रक में बाकी सब कुछ मौजूद था मगर ज़ेवर न थे। जमादार ने बहुतेरा ढूँढ़ा, रिपोर्ट लिखवाई, मगर चोर होता तो पकड़ा जाता और चोरी तो असल में अम्बाले में हुई थी और ज़ेवरों की असल चोर दुल्हन की मां थी। बात निकलती भी नहीं, मगर लोग कहते, पाप सिर से लाँघ गया था। ज़ेवरों में से दो कड़े फौजी अफ़सर के पास से पकड़े गए। कोई कहता कि फौजी अफ़सर ने खुद रिपोर्ट की थी कि औरत उसे रिश्तन देना चाहती थी। बीच की बात भगवान् जाने, वह औरत आने परों पर पानी न पड़ने देती। यी मगर जाहिरा तो यही सुनने में आया कि उसको छोटी लड़की दिल के रोग से बीमार थी, जिसे वह फौजी हस्पताल में दाखिल करवाना चाहती थी। मगर इसके इजाज़त न होना के कारण उसने हस्पताल के अफ़सर की बीवी को दो कड़े भेंट किये, और अफ़सर ने उल्टे रिपोर्ट कर दी।

इस घटना से शहर में सनसनी फैल गई। हग बाबू लोगों ने तो उसके चले जाने पर चैन की साँस ली। कुछ लोगों को रंज था कि उसे जेल क्यों न हुई। जिस रोज़ उसे शहर छोड़ने का हुक्म मिला वह मुश्किल मिलने आई, मगर दूर से उसे आता देख, मै क्वार्टर के सिद्धवाड़े की ओर से भाग गया।

मगर उसने मुझे नहीं भुलाया। अभी १० रोज भी न बीते होंगे कि उसका एक खत मुझे मिला। खत अमृतनर से लिखा हुआ था। वह दिल्ली जाना चाहती थी और उसने मुझसे प्रार्थना की थी कि

दिल्ली में कोई जान पहचान का आदमी हो तो उसके नाम चिट्ठी लिख दूँ। उसने यह भी लिखा था कि मैं फलां गाड़ी से दिल्ली जाऊँगी, मेरा छोटा बेटा अभी क्वार्टर में ही है। बड़ी कृपा होगी यदि तुम उस बच्चे को स्टेशन तक पहुँचा दो।

इस चिट्ठी का जवाब तो मैंने नहीं दिया, मगर उसके बेटे को स्टेशन तक पहुँचाने की हिम्मत मैंने ज़रूर की। अब सर्दी का मौसम आ गया था और शाम पड़ते ही अन्धेरा छा जाता था। गाड़ी रात के ग्यारह बजे अम्बाला स्टेशन पर पहुँचती थी।

रात के नौ बजे के करीब मैं उनके घर की तरफ गया। क्वार्टर का दरवाजा खुला था, मगर अन्दर घुप सख्त अँधेरा था। मैं ठिठक गया। मगर फिर जी कड़ा करके अन्दर कदम रखा और दियासलाई जलाई। एक कोने में खाट पर बैठा उसका छोटा लड़का ठिठुर रहा था, जैसे भिखमंगे बच्चे अक्सर बारिश के दिन सिकुड़े पड़े होते हैं। माँ अपनी बीमार बेटी को लेकर चली गई थी और उसे यहाँ अकेला छोड़ गई थी। उसके चले जाने पर बिजली भी काट दी गई थी। पिछले दो सप्ताहों में इस अभागे बालक की सुध किसी ने नहीं ली थी। बच्चे ने मुझे पहचान लिया और काँपता हुआ उठ खड़ा हुआ। मैंने दियासलाई जलाकर उसका सामान इकट्ठा किया। एक दरी, आलमारी में दो-एक बरतन और आलमारी के निचले खाने में उस औरत की हरे रंग की फाइल। वस यही सामान था। जिस किसी तरह मैंने सामान बाँधा, खाट को वहीं छोड़ा और इसी फाइल को चादर में लपेट में स्टेशन पर पहुँचा।

स्टेशन पर पहुँच कर मैंने बच्चे को बेंच पर बिठा दिया और खुद लौटने की तैयारी करने लगा, क्योंकि गाड़ी आने में अभी देर थी। मगर बच्चे की दशा देखकर मेरे पैर न उठ सके। मैंने उसे कुछ खाने को ले दिया। मैं उसके पास ही बेंच पर बैठ गया और उसकी पीठ सहलाने लगा।

धीरे-धीरे मेरे मन में एक कौतूहल जागा। देखूँ तो इस बोझल फ़ाइल में क्या है। गाड़ी आने में अभी तक देर थी, इससे समय काटने को मैंने उसकी फ़ाइल खोली। बरसों पहले की चिट्ठियाँ वहाँ पर लगी थीं। चिट्ठियाँ क्या थीं, अर्जियाँ थीं। कहीं शिकायतें, कहीं दरखास्त। देश-निकाले का नोटिस भी वहाँ लगा था, एक अर्जी बंटी को अस्पताल में दाखिल करने के बारे में भी थी। चिट्ठियाँ पढ़ता-पढ़ता मैं दस-बारह बरस पहले की चिट्ठियाँ उलटने लगा। अब जगह-जगह पर नये नये नाम मेरी नज़रों से गुजरने लगे : चम्पा, सावित्री, वेदपाल ! मेरे जी में यह जानने की उत्सुकता पैदा हुई कि ये सब कौन हैं और कहाँ हैं ? मगर उस छोटे बच्चे से बरसों पहले की बातें पूछना बेकार था।

गाड़ी आई और एक डिब्बे के दरवाजे पर वह लम्बे कद की औरत हाथ हिला-हिला कर मुझे बुला रही थी। उसने मुझे पहले ही देख लिया था। मैंने आगे बढ़ कर जल्दी से लड़का उसके हवाले कर दिया। बेटा माँ की टांगों के साथ चिपट कर फूट-फूट कर रोने लगा। माँ ने क्षण भर उसकी पीठ थपथपाई, और फिर उसे उठा कर ऊपर वाली सीट पर बिठा दिया, और मुझ से अपना सामान लेने लगी। सब चीजें देकर मुझ से न रहा गया। मैंने पूछ ही लिया—

“यह सावित्री, चम्पा, वेदपाल — ये सब कौन हैं ? कहाँ हैं ?”

उसने एकटक मेरे मुँह की तरफ देखा, और फिर एक विचित्र और अनूठे ढंग से बोली, जैसे वह मुझ से नहीं, बल्कि अपने आप से बातें कर रही हो—

“मेरे साथ बच्चे थे वीर जी ! पाँच को तो मैं खा चुकी हूँ, मगर इन सब से छोटे को तो मैं आँच नहीं आने दूँगी। मैं बर्तन माँज लूँगी, मगर इसे छाती से लगाये रखूँगी।”

यह सब कहती-कहती वह सीट की ओर लौट गई और बड़ी देर तक अपने बेटे का मुँह चूमती रही। मेरी आँखें, जो गाड़ी के आने पर,

उसकी बीमार बेटी को खोज रही थीं, अब उस औरत के चेहरे को देखने लगीं। थोड़ी देर बाद आँखें पोंछती हुई वह वापस आई और उसी स्वागत अन्दाज़ से, अत्यन्त व्याकुल स्वर में बोली, “ओह, इसका भी साँस फूलता है। मैं कहाँ जाऊँ ? हे मेरे परमात्मा।”

मगर उसी समय गाड़ी ने सीटी दी और वह औरत, अकेली एक शहर से दूसरे शहर की ओर चल दी।

समाधि भाई रामसिंह



यह घटना मेरे शहर में घटी। यह घटना और कहीं घट भी न सकती थी। शहरों में शहर है तो मेरा शहर और लोगों में लोग है तो मेरे शहर के लोग जो अपने तुल्य किसी को समझते ही नहीं। हमारे शहर के बाहर एक गन्दा नाला बहता है, पतला बूढ़ा, मन्दगति, जिसमें इतना पानी भी नहीं कि उसमें भैसें बैठकर अपना बदन ठण्डा कर सकें, मगर हम उसे दरिया कहते हैं। एक बाग है जिसमें शीशम और सफेदे के पेड़ों के अलावा तीसरी तरह का पेड़ नहीं, और कौओं और चीलों के अलावा कोई परिंदा नज़र नहीं आता, नीचे भाड़-भंखाड़ है, और हर वक्त वहाँ गर्द उड़ती रहती है, वसन्त में भी वहाँ कभी हरियाली देखने को नहीं मिलती; पर शहर वाले उसे चमन कहते हैं, और उसे किसी भी पुष्पवाटिका से अधिक सुन्दर मानते हैं। इस शहर की कोई चीज़ अपनी नहीं, जो फल आते हैं, तो काबुल से और कपड़ा आता है, तो विलायत से, इसके अपने फल तो खट्टे अलूचे, लसूड़े और गरण्डे होते हैं, जिन्हें अब बकरियों ने भी खाना छोड़ दिया है; मगर शहरवाले इसे फलों का घर और कपड़े की मण्डी मानते हैं। वस, इस शहरवालों की एक ही चीज़ अपनी है, उनकी मूँछें, जिनके कोने सदा ऊपर को उठे रहते हैं, उनमें कभी खम नहीं आया !

इसलिए यह घटना इसी शहर में ही घट सकती थी।

चूँकि शहर बहुत पुराना नहीं, यहाँ कोई स्मारक या मन्दिर नहीं, मगर किसी शहरवाले से कहकर तो देखो, वह आपको इस नज़र से देखेगा, जैसे वह किमी गुफावासी को देख रहा हो, और फिर पूछेगा— तुमने भाई रामसिंह की समाधि देखी है ?

और इसके बाद समाधि की तारीफ़ में और भाई रामसिंह की तारीफ़ में एक कसीदा कह डालेगा। अब भाई रामसिंह कोई गुरु नहीं हुए, उनका इतिहास में कहीं नाम नहीं मिलता, शहर के बाहर इम बेचारे को कोई जानता तक नहीं, मगर यहाँ उसे और उसकी समाधि को शहर का बच्चा-बच्चा जानता है; और यदि देश भर का बच्चा-बच्चा नहीं जानता, तो इसमें देशवालों का दोष है, शहरवालों का नहीं।

जो घटना मैं आपको बतलाने जा रहा हूँ, वह इसी समाधि से सम्बन्ध रखती है।

यूँ हमारा शहर छोटा-सा है, जिसमें एक बाज़ार लम्बा-सा कपड़े वालों का, एक बाज़ार नानबाइयों का, एक सब्जीमंडी, एक अनाज-मंडी, अनगिनत गलियाँ और दर्जन के लगभग मुहल्ले हैं। शहर के बीच में एक ऊँचा-सा टीला है, जिसपर एक मन्दिर है और जिसके चारों तरफ़ लम्बी-लम्बी सड़कें उतरती हैं, जैसे शिवजी की जटा से एक की बजाय चार नदियाँ बह निकलें। लोग मस्त हैं, जो काम करते हैं वह भी, और जो काम नहीं करते वह भी चौबीस घण्टों में एक चक्कर शहर का ज़रूर काटते हैं, इसलिए गलियों और सड़कों पर रौनक रहती है।

उसी रौनक में आज से कोई बीस बरस पहले एक रोज इसी टीले पर, मन्दिर की बगल में से निकलकर भाई रामसिंह चौराहे पर आन खड़ा हुआ था। गोरा रंग, लम्बी चमचमाती दाढ़ी, कुछ-कुछ काली, कुछ-कुछ सफ़ेद और स्वस्थ, नाटी देह। उस वक़्त उसकी अवस्था चालीस-पैंतालीस के लगभग होगी। बगल में सफ़ेद गागर उठाये तन पर सफ़ेद चद्दर और सफ़ेद अंगोछा पहने वह टीले पर आकर खड़ा हो गया। मगर किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान न दिया। चौराहे के एक तरफ़ कुछ लड़के खेल रहे थे। भाई रामसिंह धीरे-धीरे उनकी ओर चला गया, और एक लड़के को अपनी ओर बुलाकर बोला—लो बेटा, यह पियो।—

और गागर में से कटोरी भरकर लड़के की ओर बढ़ायी ।

लड़के सब इकट्ठे हो गये और बड़े कौतूहल से उसकी ओर देखने लगे । फिर एक लड़के ने कटोरी भाई रामसिंह के हाथ में से ले ली और बार-बार इधर-उधर देखने के बाद मुँह को लगायी, और लगाते ही दूसरे क्षण उसे थूक दिया और कटोरी फेंक दी ।

—यह चिरायता है, बेटा, इससे फोड़े, फुंसी नहीं होते । लो, थोड़ा-थोड़ा सब पियो ।

मगर किसी ने हाथ न बढ़ाया, जिसने चखा था, वह अब भी थू-थू कर रहा था, और बाकी लड़के खड़े उसपर हँस रहे थे ।

आखिर भाई रामसिंह उनसे हटकर एक सड़क से नीचे उतरने लगा । लड़के फिर कुतूहलवश थोड़ी दूर तक उसके पीछे-पीछे गये, फिर लौट आये और अपने खेल में जुट गये ।

इसके बाद भाई रामसिंह सड़क उतरने लगा और राह जाते बच्चे, बड़े, सबको चिरायता पीने का निमन्त्रण देने लगा, और फिर धीरे-धीरे शहर की गलियों में खो गया ।

इस तरह भाई रामसिंह का शहर में उदय हुआ था ।

कुछ ही दिनों में भाई रामसिंह को शहर के सब लोग जान गये । जहाँ जाता, स्त्रियाँ अपने खेलते बच्चों को पकड़-पकड़कर उसके सामने ले जातीं, और जबरन चिरायता पिलवातीं, क्योंकि चिरायता सचमुच फोड़े-फुंसियों का बेहतरीन इलाज है । जिस गली में वह पहुँचता, बच्चे फौरन छिप जाते और माएँ उनके पीछे-पीछे भागने लगतीं, लोग हँसते और भाई रामसिंह की खिल्ली उड़ाते । लोगों के लिए भाई रामसिंह एक तमाशा बन गया । मगर उसके उत्साह में कोई शिथिलता नहीं आयी । बल्कि कुछ ही दिनों बाद उसकी गागर में छोटा-सा नल लग गया, ताकि चिरायता उँडेलने में आसानी हो; फिर एक कटोरी की बजाय तीन कटोरियाँ आ गयीं, ताकि तीन आदमी एक साथ पी सकें; फिर भाई रामसिंह के कन्धे से एक बिगुल भी लटकने लगा ।

जिस मुहल्ले में जाता, पहले बिगुल बजाकर अपने आगमन की सूचना दे देता ।

लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे । कोई कहता कि साथ वाले कस्बे से आया है, वहाँ उसकी कपड़े की दूकान थी, कोई कहता, ज़ासूस है किसी हत्यारे की खोज में आया है । मेरे शहर वाले अनुमान भी लगाते हैं तो लड़ाती ठोंककर । किसी ने कहा—इसके पास चालीस हजार रुपया नकद है, मैंने खुद देखा है ।—लड़के कहते कि श्मशान-भूमि में रहता है और रात के वक़्त भी शहर के चक्कर काटता भूतों को चिरायता पिलाता है । तरह-तरह की बातें उठीं, पर धीरे-धीरे शांत हो गयीं । भाई रामसिंह बहुत बोलता न था । उससे जो कोई पूछता, तो कहता—गुरु महाराज के चरणों में रहता हूँ, उन्हीं का दास हूँ ।

जब चैत-बैसाख गुजर गये, तो भाई रामसिंह गागर में ठण्डा पानी पिलाने लगा । जब मन की मौज आती, तो किसी-किसी दिन पानी की जगह सन्दल का शर्बत पिलाने लगता । हमारे शहर का सन्दल का शरबत दुनिया भर में मशहूर है । और जाड़े के दिनों में कभी-कभी इलाइचियोंवाली चाय भी लोगों को मिलती । गरज कि भाई रामसिंह का चक्कर ज्यों-का-त्यों कायम रहा, और शहर में चिरायतेवाला साधु के नाम से वह मशहूर हो गया ।

इसी निस्वार्थ सेवा में दस बरस बीत गये । अब जिस साधु का अपना कोई स्थान हो, अपना अड्डा हो, वह साधु से सन्त जल्दी बन जाता है ; मगर जो सदा घूमता रहे, उसकी चर्चा चाहे जितनी भी हो, वह भाई का भाई ही रहता है । भाई रामसिंह के साथ भी यही कुछ हुआ । इन दस बरसों में भाईजी की दाढ़ी के बाल रेशम की तरह सफ़ेद हो गये, चेहरे पर झुर्रियाँ आ गयीं, हालांकि चेहरे की रौनक ज्यों-की-त्यों कायम रही, क्योंकि जो भी आदमी गागर उठाये तीन-चार मील का चक्कर रोज़ काटे उसके चेहरे पर तो लाली रहेगी ही । मगर अब

भी भाई रामसिंह चिरायतेवाला साधु ही रहा। अब भी गलियों में से घूमता हुआ जाता, तों वही लोगों को नमस्कार करता, उसे नमस्कार करने के लिए कोई अपनी जगह से न उठता। बात भी ठीक थी, भला चिरायता पिलाने से भी कभी कोई सन्त हुआ है !

पर एक दिन न मालूम भाई रामसिंह को वैराग्य हुआ, या भ्रम हुआ, या उसने कोई स्वप्न देखा, या सचमुच ही उसे आकाशवाणी हुई, सुबह-सबरे टीले पर आकर कहने लगा—भक्तो ! रात को गुरु महाराज का परवाना आ गया है, मैं जा रहा हूँ। कल सुबह दिन चढ़ते-चढ़ते मैं चोला बदल जाऊँगा।

यह बात उसने टीले पर बुद्धसिंह बजाज की दूकान के सामने कही, जहाँ वह दिन में पहली बार बिगुल बजाता था। आज भी उसकी बगल में गागर थी। बुद्धसिंह बजाज ने सुना, पर कोई विशेष ध्यान न दिया; मगर उसके छोटे भाई ने, जो नामधारी सिक्ख हो गया था, सुन लिया। कहने लगा—सुना, भाई रामसिंह ने क्या कहा ?—वह चोला बदलने जा रहे हैं।

सरदार बुद्धसिंह ने जवाब दिया—मैंने सुन लिया है, तू समझता है, मैंने सुना नहीं ? चोला बदलता है तो बदले, मुझे उसके मुँह में आग थोड़ी देनी है ! तेरे बेटे चिरायता पीते रहे हैं, तू उसके पाँव पकड़ !

इस पर दोनों भाई हँसकर चुप हो गये।

मगर दूकान पर बैठी हुई दो स्त्रियों के कान में यह बात पड़ गयी। पहले वह भी हँसीं, मगर जब कपड़ा लेकर लौटती हुई, वह सेवाराम की गली में से गुजरीं और गली के मोड़ पर भाई रामसिंह को खड़े चिरायता पिलाते हुए देखा, तो उनके दिल को कुछ हो गया। एक ने दुपट्टे का आँचल मुँह पर रखते हुए कहा—हाय, बेचारा ! चोला छोड़ता है, और आज भी चिरायता पिला रहा है !

बस फिर क्या था। खबर के फैलने में देर नहीं लगी। सेवाराम

की गली से बात नये मुहल्ले में पहुँची, वहाँ से छाछी मुहल्ले में, फिर लुण्डा बाजार, भाभड़खाना, सैदपुरी दरवाजा । एक गली से दूसरी गली तक पहुँचते हुए उसकी रफतार तेज होती गयी, यहाँ तक कि थोड़ी ही देर में यह ख़बर एक बवण्डर की तरह शहर की गलियों और सड़को पर घूमने लगी, कि चिरायतावाला भाई रामसिंह कल सुबह ४ बजे, पौ फटते ही चोला छोड़ देगा ।

अब भाई रामसिंह की गागर नियमानुकूल लुण्डा बाजार के सिरे पर पहुँचकर खतम हो गयी, और वहीं से उसने कदम फेर लिये और शहर के बाहर जहाँ एक पेड़ों का झुरमुट है, जिसे हम तपोवन कहते हैं, एक पेड़ के नीचे जा बैठा ।

तपोवन शहर के बाहर कीकर और पलाश के पेड़ों का एक झुरमुट है, जहाँ एक पुराना कुआँ है, जिस पर लोग सुबह दातुन करने और नहाने जाते हैं । वहाँ रहता कोई नहीं, केवल कभी-कभी आये-गये सन्तों की कथा होती है ।

दोपहर तक तो तपोवन में शान्ति रही, मगर ज्योंही दो बजे का वक़्त हुआ और स्त्रियों ने चौके उठाये, तो कई भक्तिनियाँ हरिनाम जपती हुई दिल में हाय-हाय करती, भाई रामसिंह को खोजती वहाँ आ पहुँचीं । चार बजते-बजते स्त्रियों की भीड़ लग गयी । पुरुषों ने सुना, तो हँसे, मगर धीरे-धीरे उनका धैर्य भी टूटने लगा । क्या मालूम यह भी कोई पहुँचा हुआ सन्त हो ! दर्शन करने में क्या हर्ज है ? कुछ तमाशे के ख्याल से, बच्चे, बूढ़े, जवान, सब वहाँ पहुँचने लगे । आखिर शहर तो वही था, जो जायँ तो सब जायँ, और जो सब जायँ, तो घर में बैठना हराम है !

जो भाई रामसिंह अभी तक भाई रामसिंह ही था, तो दोपहर तक वह सन्त बन गया, और शाम होते-होते सन्त महाराज की उपाधि भी उसे मिल गयी । कई मुरादें बिन माँगें पूरी हो जाती हैं । जिसे दस बरस तक किसी ने न पूछा था, आज उसी के दर्शन को हजारों

लोग एड़ियाँ उठा-उठा कर भाँक रहे थे। पेड़ के नीचे आसन बिछा दिया गया। फिर कहीं से चौकी आ गयी। दर्शनों के लिए सन्त महाराज का ऊँचा बैठना जरूरी था। एक भक्त चँवर झेलने लगा। फूलों के ढेर लगने लगे। कहीं से गैस का लैम्प आ गया, फिर दो लैम्प आ गये। स्त्रियों की भक्ति का कोई अन्त न था। पैसे, आटा, घी निछावर होने लगे। भाई रामसिंह को भी इसी के अनुसार आँखें बन्द किये हुए ध्यानमग्न होकर बैठना पड़ा। फिर कहीं से बाजे, तबले वगैरा आगये। कीर्तन होने लगा। लोग झुक-झुककर भाई रामसिंह की दिव्य मूर्ति को प्रणाम करने लगे।

बात मुसलमानों के मुंहलों में भी जा पहुँची। सन्त-पीर सबके साझे होते हैं। मुसलमान भी आ पहुँचे। वाह ! वाह ! क्या जमाल है ! स्त्रियाँ घरों को लौटतीं, मगर घरों में उनके पाँव कब टिकते थे ? जो दाल-रोटी बन पाती, बनाकर फिर दौड़ी वहाँ जा पहुँचतीं।

रात के बारह बज गये। उत्तेजना बढ़ने लगी। एक कोमल हृदय की बूढ़ी औरत ने हाथ बाँधकर भाई जी से बिनती की कि महाराज ! दया करो, चोला न बदलो ! महाराज ने सुना, मुस्कराये, और चुपचाप आँखें आकाश की ओर करके फिर ध्यानमग्न हो गये। सारे शहर का दिल धक्-धक् कर रहा था। उत्कण्ठित और उत्तेजित लोग इसी इन्तज़ार में थे कि कब चार बजे और वह चोला बदलने का चमत्कार देखें।

रात गहरी होने लगी। लोग घड़ियाँ देखने लगे। उस रात शहर भर में कोई नहीं सो पाया। गलियाँ सुनसान पड़ गयीं, उनमें कोई आवाज़ आती, तो दौड़ते कदमों की। एक दरवाजा खटकता, एक आवाज़ आती—दो बजे हैं, बस अब दो घण्टे बाकी रह गये। तू बैठ मैं अभी आता हूँ। तू जाएगी, तो बच्चों को कौन देखेगा ? मैं लौट आऊँ, तो तू चली जाना—रात भर यही किस्सा होता रहा। जब मर्द के कदम दूर निकल जाते, तो औरत के कदमों की

आवाज आने लगती ।

तीन बज गये, फिर साढ़े तीन । कीर्तन में अब हजारों स्त्री-पुरुष भाग ले रहे थे । ऊँचे कण्ठ से गुरु-वाणी गायी जा रही थी । पेड़ों पर बैठे हुए पंछी भी पत्तों में से झाँक-झाँककर यह दिव्य चमत्कार देख रहे थे ।

पौने चार बजते-बजते जयजयकार हो उठी । महाराज ने आँखें खोलीं । स्त्रियों ने रो-रोकर एक दूसरी को कहा—वक्त आन पहुँचा । देखो, इन्हें अपने-आप पता चल गया है ।

अंधेरा अभी बहुत गहरा था । मगर लोग अपनी-अपनी घड़ियों पर एक-एक मिनट ऊँची आवाज में गिन रहे थे । हमारे शहर में चार बजे का वक्त पौ फटने का वक्त माना जाता है ।

चार बजने में पाँच मिनट पर गुरु महाराज वेदी पर से उठ खड़े हुए और हाथ जोड़े, सिर नवाये, नीचे आकर ऐन वेदी के सामने लम्बे लेट गये, और छाती पर दोनों हाथ जोड़कर आँखें बन्द कर लीं । श्रद्धा और भक्ति के बाँध टूट पड़े, औरतें सिसकियाँ ले लेकर रो उठीं, और महाराज पर फिर से पुष्प-वर्षा होने लगी ।

चार बजने में एक मिनट पर एकदम सन्नाटा छा गया । चारों तरफ चुप्पी छा गयी । हरिनाम की ध्वनि बिल्कुल शांत हो गयी । स्त्रियों के आँसू सूख गये और आँखें भाई रामसिंह के चेहरे पर गड़ गयीं । सब लोग साँस रोकें एकटक गुरु-महाराज की ओर देख रहे थे ।

ठीक चार बजे महाराज ने आँखें बन्द कर लीं और हिलना-डुलना छोड़ दिया ।

लोग चुपचाप आँखें फाड़े देखते रह गये । दो-एक ने हाथ आकाश की ओर उठाकर, राने की आवाज में कहा—गये ! हमें छोड़कर चले गये !

फिर शहर के एक मुखिया ने धीरे से पास आकर कुछ फूल हटाने

हुए, महाराज की नब्ज देखी। सिर हिलाकर बोले—धीमी है, मगर चल रही है।

लोग चुपचाप आँखें फाड़े देखते रह गये। दो-एक ने हाथ आकाश की ओर उठाकर, रौने की आवाज में कहा—गये ! हमें छोड़ कर चले गये !

फिर शहर के मुखिया ने धीरे से पास आकर कुछ फूल हटाते हुए, महाराज की नब्ज देखी। सिर हिला कर बोले—धीमी है, मगर चल रही है।

लोग चुप थे। उनकी आँखें अब भी साधु महाराज के चेहरे को देख रही थीं।

चार बज कर तीन मिनट पर फिर मुखिया ने नब्ज देखी, फिर सिर हिलाया और आहिस्ता से कहा—धीमी है, मगर चल रही है।

दूसरा मुखिया बोला—संसारी घड़ियों का क्या विश्वास ? जब ऊपर चार बजेंगे, तो चोला अपने आप छूट जायगा।

चार बज कर पाँच मिनट हो गये। नब्ज अब भी चल रही थी। मुखिया ने झुक कर कान में महाराज से पूछा—महाराज, कैसे हैं ?

जवाब धीमा-सा आया—मैं इन्तजार में हूँ। मैंने अपनी तरफ से चोला छोड़ दिया है।

लोग एक-एक सेकेण्ड गिन रहे थे। चार बज कर सात मिनट पर फिर मुखिया ने नब्ज पकड़ी, और मिनट भर पकड़ कर बैठे रहे। उन्होंने अब की तनिक ऊँची आवाज में कहा—नब्ज ज्यों-की-त्यों चल रही है।

लोग एक-दूसरे के मुँह की तरफ देखने लगे। सिर हिलने लगे। चेहरों पर संशय की रेखायें नज़र आने लगीं। फिर दूसरे मुखिया ने खड़े-खड़े कहा—साधु महाराज, क्या देरी है ?

महाराज ने आँखें बन्द किये हुए उत्तर दिया—ऊपर से परवाना आये, तब तो !

जो श्रद्धा और भक्ति पहले मौन प्रतीक्षा में परिणत हुई थी, अब अविश्वास और क्रोध में बदलने लगी। लोग समझने लगे, जैसे उनके साथ खिलवाड़ हुआ है, उनका अपमान किया गया है।

ऐन सवा चार बजे जब मुखिया ने चिल्ला कर पूछा कि अब क्या देरी है, हम खड़े-खड़े थक गये हैं, तो भाई रामसिंह हाथ जोड़ कर उठ बैठे—भगवान मुझे सला रहे हैं, मैं क्या करूँ ? मैं हर क्षण इन्तजार कर रहा हूँ।

पर इस वाक्य का उल्टा असर हुआ। औरतें भी बोलने लगी—
हे ! देखो, यह तमाशा देखो, पाखण्डी !

दो-एक सज्जन जो रात भर चमत्कार के इन्तजार में जागते रहे थे, और स्त्रियों से लड़ कर आये थे, आगे बढ़ आये—साले ! जानत नहीं, यह कौन शहर है !

महाराज डर कर उठ बैठे और हाथ जोड़े हुए चौकी के पास जा खड़े हुए। बोले—दिन चढ़ने से पहले मैं चोला छोड़ जाऊंगा। भक्तो ! मुझे यही परवाना मिला है, आप घरों को जाओ !

—अब दिन कब चढ़ेगा ? चार तो कब के बज गये !—लोगों ने चिल्ला कर कहा।

—भाइयो ! आप घर लौट जाओ। मैंने यहां किसी को नहीं बुलाया। आप लोग जाओ..सूरज चढ़ने से पहले...

मगर लोगों की आंखों में खून उतर आया। देखते-ही-देखते लोगों की बाढ़ आगे बढ़ आयी। लोग मक्के कसने लगे। शहर के पांच-सात शोहदे और मुस्टंडे सामने आ गये।

भाई रामसिंह डर कर चौकी के पास से हट गया और एक पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ।

बस, उसका वहाँ से हिलना था, कि धक्का-मुक्की शुरू हो गई। भाई रामसिंह को घूँसे पर घूँसे पड़ने लगे। जिसे जो हाथ लगा, उसी से मरम्मत करने लगा।

भाई रामसिंह की भागती काया कभी एक पेड़ के पीछे और कभी दूसरे के पीछे आश्रय ढूँढ़ने लगी। मगर जहाँ वह जाता भक्त वहीं जा पहुँचते। भला भक्तों से भी कभी कोई भाग सका है ? पहले घूँसे और मुक्के पड़ते रहे, जब भाग खड़ा हुआ, तो पत्थर और जूते पड़ने लगे। भाई रामसिंह बार-बार चिल्लाया—भाइयो ! मैंने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा। मुझे मत मारो। मैंने तुम्हारी सेवा की है।.....

मगर भक्तों की भावना में कोई शिथिलता नहीं आयी। हाँ कुछ एक ने छुड़ाने की कोशिश की, मगर पत्थरों के डर से वे भी पीछे हट गये।

फिर सचमुच एक चमत्कार हुआ, जिसकी चर्चा आज भी हमारे शहर के लोग बड़ा गर्व करते हैं।

ऐन सूरज चढ़ते-चढ़ते भाई रामसिंह ने चोला बदल दिया और उसके प्राण-पखेरू उड़कर भगवान् के पास जा पहुँचे। हाँ, केवल उसकी देह, कीचड़ और मिट्टी और खून से लथपथ हो गयी थी, और उसके इर्द-गिर्द जूतों और पत्थरों का ढेर लग गया था।

मगर वह तो आखिर विसर्जित चोला था, उसे मिट्टी में मिलना ही था।

इस चमत्कार का आभास होने में देर नहीं लगी। जब दिन चढ़ आया और रात का भ्रम दूर हुआ और भाई रामसिंह की देह एक स्पष्ट सत्य की तरह सामने नज़र आने लगी, तो एक ने कहा—ठीक ही तो कहता था। सूरज चढ़ने से पहले मर गया न ? (मर ही तो गया)।

फिर दूसरे ने कहा - भला पत्थर मारने की क्या ज़रूरत थी ? मर तो उसे यों भी जाना था। हम लोगों में धैर्य नहीं।

बस फिर क्या था, स्त्रियों ने अपने दुपट्टे गले में डाल लिये। आँसू बहने लगे। भक्त फिर इकट्ठे होने शुरू हो गये। जूते-पत्थर हटा दिये गये, और पुष्प-वर्षा होने लगी, और भाई रामसिंह का विसर्जित चोला

फूलों के नीचे फिर दबने लगा । और भाई रामसिंह की अर्थी ऐसे सजधज से निकली कि शहर वाले खुद अपनी श्रद्धा पर अश-अश करने लगे ।

और भाई रामसिंह की समाधि तपोवन के पास ऐन उसी जगह पर बनाई गई, जहाँ पर आसन पर बैठे थे ! ऐसी सफ़ेद, सुन्दर चमकती इमारत है कि रात को भी दूर से नज़र आती है । और उस पर एक गोल गुम्बज़ भी है, सन्तजी की गागर वहाँ स्थापित है, और सफ़ेद नया बाना भी और एक जोड़ा खड़ाऊँओं का भी, जो किसी भवत ने अपने पैसों से नया खरीद कर वहाँ रख दिया था । और हमारे देश के बच्चे-बूढ़े सच्चे दिल से मानते हैं कि कोई औलिया इस कलियुग में हुआ है, तो सन्त रामसिंह, जिसे भगवान् ने एक दिन दर्शन देकर सीधे अपने पास बुला लिया था ।

बाप-बेटा



एक फ़ौजी बारक की दीवार के बाहर एक अर्धे उमर का आदमी खड़ा भगोखें में से बार-बार अन्दर झाँक रहा था। उसके दोनों हाथ घबराहट में कभी दीवार को पकड़ते, कभी एक दूसरे में बँध जाते, कभी उसकी मुट्ठियाँ खुलती, कभी बन्द होतीं। सिर पर एक मैली-सी टोपी पहनें, बदन पर घुटनों तक लम्बा एक खाकी कोट लटकाये, और एक जगह-जगह पँबद लगा पाजामा पहने, वह बार-बार अन्दर देखे जा रहा था और उसकी उत्कठा क्षण प्रतिक्षण अधीर हो रही थी।

दीवार के पीछे बारक के मैदान में दम-बारह नववयस्क लड़कों की एक पांत खड़ी थी, सब के बदन नंगे, केवल एक जांघिया पहने हुए, और उनके सामने दो फ़ौजी अफ़सर खड़े उनकी परीक्षा ले रहे थे। एक अफ़सर के हाथ में एक छोटा सा बेंत था, और दूसरे हाथ में एक लम्बी सी किताब, जिस में वह बार बार कुछ लिख रहा था। ढलती दोपहरी के साये लम्बे पड़ चुके थे, और मैदान के आधे भाग पर छांह आ चुकी थी। दीवार के बाहर बड़े गेट के पास जहाँ यह आदमी खड़ा था एक वृहदाकार फ़ौजी सिपाही की तस्वीर थी जो हाथ में बन्दूक उठाये, छाती ताने खड़ा था, और जिस के नीचे लिखा था : देश की सेवा के लिये देश की फ़ौज में भरती हो जाओ। दीवार के बाहर जगह-जगह इक्के-दुक्के लोग किसी-किसी वक्त आकर रुकते, पल-घड़ी तमाशा देखते, बीड़ी-सिगरेट के दो एक कश लगाते और अपनी राह चले जाते। केवल यही व्यक्ति बड़ी देर से रुका हुआ था।

इतने में एक बूढ़ा आदमी, जो गेट के पास किसी वक्त आ खड़ा हुआ था, चलता हुआ इस आदमी के पास आ खड़ा हुआ, और थोड़ी

देर तक अन्दर भाँकते रहने के बाद बोला :

“बेटे को लाये हो ?”

आदमी ने मुड़ कर देखा, और फिर मुंह फेरते हुए बोला :

“हां।”

“कौन-सा लड़का है तेरा ?”

“वह जो नुक्कड़ में खड़ा है।”

“जीता रहे, बड़ा खूबसूरत लड़का है। किस गांव से आये हो ?”

“नूरपुर से।”

“कितने बेटे है तेरे ?”

“एक यही बेटा है। तुम भी भरती करवाने आये हो ?”

“नहीं, मैं पिशन के पैसे लेने आया हूँ। उसका दफ्तर इधर पीछे है।”

“पिशन ? क्या तुम फ़ौज में थे ?”

“नहीं, मेरा बेटा फ़ौज में था।”

“अब फ़ौज में नहीं ?”

बूढ़े ने धीरे से जवाब दिया :

“नहीं।”

दोनों फिर अन्दर भाँकने लगे।

कुछ देर बाद दोनों अफ़सर उस नुक्कड़ वाले लड़के के सामने घ्रा खड़े हुए और उसका इम्तहान लेने लगे। लड़का सचमुच खूबसूरत था। गोरा चिट्ठा बदन, मांसल गुदगुदे पट्टे, बाजरे के सिट्टे की तरह बढ़ता कद, सारे शरीर पर लड़कपन की चिकनाहट और कान्ति, वह विस्मित और आदरपूर्ण नेत्रों से फ़ौजी अफ़सरों को देखे जा रहा था।

एक फ़ौजी अफ़सर ने बेंत से लड़के के घुटनों को ठकोरा। लड़के ने दोनों पाँव जोड़ लिये, छाती फैला ली, और गदन ऊँची कर के खड़ा हो गया। फिर अफ़सर ने बेंत को बगल में दबा लिया और अपने दोनों हाथों से उसका शरीर टटोलने लगा, कभी छाती थपथपाता, कभी

उसके पट्टों को दबा दबा कर देखता, कभी उसके कन्धों को हिलाता डुलाता। बाहर खड़े बाप की टांगें लड़खड़ा रही थीं। उसके हाथ कभी खलते कभी बन्द होते, मानों वह भी बेटे के मुलायम चिकने शरीर का स्पर्श कर रहा हो।

थोड़ी देर बाद परीक्षा समाप्त हुई, और सब लड़के एक ढेरी पर से अपने अपने कपड़े उठा बारक के पीछे चले गये। जाने से पहले नुक्कड़ वाला लड़का बार बार दीवार की ओर देखता रहा, उसकी आँखें अपने बाप को ढूँढती हुई दीवार का चक्कर काटने लगीं, मगर बाप को न पाकर फिर कपड़ों की ओर लौट गई। छिद्रों में से देखते हुए बाप का गला रुंध गया, और वह दीवार पर से हट कर ज़मीन पर बैठ गया।

शाम हो चुकी थी। सड़क के पास एक विशालकाय वृक्ष पर परिन्दे लौटने लगे थे, और छावनी पर सायंकाल की निस्तब्धता छाने लगी थी। केवल किसी-किसी ववत कहीं से फ़ौजी बिगुल बजने की आवाज़ दे जाती। बाप, बेटे की इन्तज़ार में एक-एक पल गिनने लगा।

सूर्य छिप चुका था और अन्धेरा गहरा होने लगा था, जब दीवार के पीछे से फिर आवाज़ें आने लगीं, और लड़के बाहर निकलने लगे। बाप दौड़ कर गेट के पास जा पहुँचा। ज्यों ही उसका बेटा सामने आया बाप ने आगे बढ़ कर उसका हाथ थाम लिया और तेजी से उसे पेड़ के नीचे ले गया।

“क्या हुआ रसिये क्या हुआ ?”

“सब को ले लिया है।” बेटे ने थकी हुई आवाज़ में जवाब दिया।

“तुम्हें भी ले लिया है ?”

“हां”

बाप की सारी घबराहट एक ही वाक्य में जैसे पसीज उठी।

उसका गला भर आया, और वह अपने बेटे को बार-बार छाती से लगाने लगा। वह कभी अपने दोनों हाथों से बेटे का मुँह पकड़ कर उसे बार-बार देखता, कभी उसे छाती से लगाता, कभी उसकी पीठ पर हाथ फेरता। बेटा थका हुआ था। उसकी आँखें बोझिल और अलमाई हुई, चेहरा तपे हुए ताँबे की तरह लाल हो रहा था और पसीने से तर था।

दोनों पेड़ के नीचे जा बैठे। जब बाप की उत्तेजना कुछ शान्त हुई तो बोले :

“तुम से क्या पूछा था, रसिये ?”

“बहुत सवाल पूछे थे।”

“उमर का पूछा था ?”

“हाँ।”

“तो तू ने क्या कहा ?” बाप ने घबराकर पूछा।

“मैंने कहा सत्रह बरस दो महीने।”

“फिर ? फिर अफसर ने क्या कहा ?”

“उसने कुछ नहीं कहा।”

“और क्या पूछा था ? यह पूछा था कि ज़मींदारी क्यों छोड़ते हो ?”

“हाँ, मैंने कहा, मुल्क की खिदमत करना चाहता हूँ।”

“और क्या कहा ?”

“और कि मेरा ताऊ फ़ौज में रसालदार था।”

“फिर ? अफसर ने क्या कहा ?”

“कुछ नहीं कहा।”

बेटा मुस्कराया। बाप ने निश्चिन्तता की ठण्डी सांस ली। धीरे धीरे बेटे की ज़बान खुलने लगी। नये अनुभव की उत्तेजना में वह शुरू से आखिर तक की सारी बातें सुनाने लगा। और बाप की आँखों

में गहरी ममता और भावुकता छलक आई। बेटे के हाथ को अपने हाथों में लिए वह उसका एक-एक शब्द सुनता रहा और सिर हिलाता रहा। उसकी नसों का तनाव ढीला पड़ गया, और बेटे को देखते हुए बार-बार उसकी आँखें भर आने लगीं।

“बरदी पहन कर तो तू रोठा जवान नज़र आएगा, रसिये।”
बापने आँसू छिपाने की चेष्टा करते हुए हँस कर कहा।

“जब छुट्टी पर आयगा तो तेरी मूछें होंगी” बापने कह कर मुँह फेर लिया।

“मुझे कब छुट्टी मिलेगी।”

“मैं नहीं जानता। शायद दो बरस के बाद। तब तो तू मुझ से भी लम्बा हो जायगा।”

इसके बाद बाप सहसा चुप हो गया और उसका चेहरा धीरे धीरे गम्भीर होने लगा। अन्धेरा बढ़ने लगा था। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे, उस पर असंख्य पक्षी लौट रहे थे। शाखों पर परों के फड़फड़ाने, पक्षियों के चहकने और फुदकने-कूदने की आवाजें आ रही थीं। पेड़ की विशाल ओट में दिन भर के बिछुड़े हुए पक्षी अपने परिवारों से मिल-मिल कर सुख से चहक रहे थे।

गहरी, धीमी आवाज़ में बाप ने कहा :

“रसिये।”

“हां बापू।”

“जो तलब मिले वह सारी की सारी पंडित दुकानवाले को भेज देना।

“उसे क्यों भेज दूँ, बापू ?”

“उसी को भेज देना, समझे ?”

“अच्छा बापू।”

बाप का चेहरा फिर चिन्तित और कठोर हो उठा, माथे पर का अङ्ग्रेज फिर उभर आई। भरी हुई आवाज़ में बोला :

“जो नहीं भेजी तो बहुत नुकसान होगा। ज़मीन कुर्क हो जायगी।”

“कुर्क हो जायगी?”

बेटा हैरान हुआ, पर इस वाक्य का पूरा अर्थ न समझ कर फिर चुप हो गया। और सिर हिला कर बोला :

“हां बापू।”

“बस सिरफ़ छः महीने की मोहलत बाकी है। अगर उसे वक़्त में पैसे नहीं मिले तो ज़मीन छिन जायगी।”

बेटा उद्भ्रान्त नज़रों से बाप के मुँह की ओर देखने लगा।

“डाक़ वाले बाबू को पता बतला देना। वह चार-छः आने पैसे लेकर हर महीने तेरा काम कर देगा। पण्डित का नाम पता मालूम है?”

“हां बापू, सियाराम, पण्डित सियाराम, मौज़ा नूरपुर, थाना नूरपुर, जिला कांगड़ा।”

इस विस्तारपूर्ण पते पर बाप के चेहरे पर एक गर्व की क्षीण सी रेखा दौड़ गई।

फिर दोनों चुप हो गये। बेटा बाप के चेहरे की ओर देखता रहा, जैसे कोई बात बार-बार उसके मुँह को आती हो और वह उसे कह न सकता हो। आख़िर बाप ने पूछा :

“क्या है रसिये?”

“बापू?”

“क्यों बेटा?”

“मां खफ़ा तो नहीं होगी?”

“नहीं, क्यों?”

“जब मैं आया तो वह बहुत रोती थी। मां कहती थी मेरी उमर सोलह साल की है। तुम बोलते हो सत्रह बरस दो महीने की है।”

इस प्रश्न पर बाप की देह फिर कांप उठी, मगर वह जल्दी ही सम्मल गया। अन्धरे में बैठे हुए बाप और बेटा एक दूसरे के चेहरे

की ओर देखते हुए, एक दूसरे के विचार पढ़ने की चेष्टा करने लगे, फिर बाप ने बेटे के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा :

“माँ गलत कहती है । तेरी उमर सत्रह बरस दो महीने की है । सावन महीने में तू पैदा हुआ था । पुरोहित की पत्री में भी यही लिखा है ।”

बेटा चुपचाप बाप के मुँह की ओर देखता रहा ।

“फौज में किसी को सोलह बरस नहीं कहना, नहीं तो फौज में से निकाल देंगे । बड़ा अनर्थ हो जायगा ।”

“नहीं बापू, नहीं कहूँगा ।”

छावनी में जगह जगह बत्तियाँ जल उठी थीं, और अन्धेरा गहरा हो रहा था । सड़कें सुनसान पड़ गई थीं । केवल भरती के दफतर के सामने, दीवार से थोड़ा हट कर, एक सिपाही कंधे पर बन्दूक उठाये, इधर से उधर और उधर से इधर पहरा दे रहा था । इतने में कहीं से बिगुल बजने की आवाज आई । लड़का भट से उठ बैठा :

“यह सात बजे की बिगुल है । अब मैं जाऊँगा ।”

“कहाँ जायगा रसिये” बाप ने शिथिल टूटती हुई आवाज में पूछा ।

“इसी बारक के पीछे । वहाँ पर हाज़री होगी । कल मुझे मेरी छावनी में भेजेंगे ।”

दोनों बाप-बेटा उठ खड़े हुए । बेटे ने बाप के पाँव छुए, बाप ने बेटे को छाती से लगाया । फिर बेटे के कंधे पर हाथ रख के बोला :

“फौज में सब के साथ भाई भाई की तरह रहना । सच बोलना, सच सदाकत को नहीं छोड़ना, सुना रसिये ? और अफसर का हुक्म मानना, जो कहे सो करना । और रसिये... पंडित को पैसे हर महीने भेजते रहना, भूलना नहीं ।”

“नहीं भूलूँगा, बापू ।”

बेटे ने फिर पा-लागन किया, और मुड़कर बारक की ओर जाने लगा, और देखते ही देखते उसका छरहरा चंचल शरीर अन्धेरे में ओझल हो गया। भरती के दफ्तर पर मौन निःस्तब्धता छाई हुई थी। केवल वृक्ष पर परिन्दे अब भी पुनर्मिलन के गीत गा रहे थे। गेट के पास सिपाही की तस्वीर अपनी धुंधली रेखा में बन्दूक थामें, छाती ताने, अब भी देश-सेवा का निमन्त्रण दे रही थी। और बारक के बाहर सिपाही बन्दूक कन्धे पर उठाये यंत्र की भाँति अब भी पहरा दिये जा रहा था।



आर्यसमाज में मूर्तिपूजा का खंडन होता तो बाबू अनंतराम बड़बड़ कर उसमें भाग लेते। और जो मंदिर में अछूतोद्धार का खंडन होता तो बाबू गिरिधर बाहें फैला-फैला कर भाषण देते। एक गंगा-स्नान करता, एकादशी का उपवास रखता, दूसरा ऋषि-जीवन पर व्याख्यान देता, चंदा उगाहता, हवन यज्ञ करता—और दोनों हर इतवार को एक-दूसरे के मत की निंदा करते।

इसी तरह इस मित्रता और शत्रुता के बीस वर्ष बीत गये थे । इन बीस वर्षों में बहुत कुछ बदला । बाबू अनंशुराम का मकान दोमंजिले से तिमंजिला हो गया, और बाबू गिरिधर का एकमंजिले से दोमंजिला; एक के वेदानुकूल सात बच्चे हुए और दूसरे के शास्त्रानुकूल नौ । पर धर्म दोनों का वही रहा, इसका तनाव तनिक भी ढीला न हो पाया । अब भी दोनों एक दूसरे के साथ शास्त्रार्थ करते, एक दूसरे को अपने अपने मत की ओर खींचने का प्रयास करते, मगर सब बेसूद । भला धर्म भी कभी बदला है ।

पर यहाँ पहुँच कर एक का पाँव अचानक फिसल गया, और हजार संभालने पर भी न संभल पाया, और अपनी धार्मिक मर्यादा से लुढ़कने लगा। बात मामूली थी—न फिसलता तो शायद न ही फिसलता। मगर कहते हैं भाग्य बड़ा बली है, जो बात मनुष्य नहीं कर सकता, वह भाग्य कर दिखाता है।

बाबू अनंतराम की एक लड़की थी, और बाबू गिरिधर के एक लड़का दोनों साथ खेलते बड़े हुए थे, ताऊ चाचा की ओलाद की तरह। पर ज्यों ही इन्होंने होश संभाला, तो इनकी आँखें धर्म की दीवारे पार करने लगीं, और यह एक दूसरे से लुकछिप कर मिलने लगे।

बात छिपी रहती तो न मालूम क्या गुल खिलाती, मगर लड़का अधीर हो उठा, और एक दिन अपनी मां को सारी हृदयवार्ता कह सुनाई। मां ने सुनी, कुछ हँसी, कुछ घबराई। पर अंत में बेटे की आँखों में आंसू देखे तो उसे छाती से लगा लिया, और उसकी मनोकामना पूरी करने का वचन दे दिया। अब कार्य सिद्ध होने में देर नहीं लगी। दूसरे ही दिन सीधे बेटेवालों के घर पहुँची, और लड़की के सिर पर हाथ रख कर बोली।

“अब यह लड़की मेरी हो गई। अब यह मेरे घर की लक्ष्मी बनेगी।”

बेटी की मां ने सुना तो उसकी बाँछें खिल गईं। घर बैठे बिठाये लड़का मिल गला, जाना पहचाना परिवार, ‘वह भी खत्री हम भी खत्री’, और जो स्वयं लड़की पर हाथ रखा है तो मांगेंगे भी थोड़ा। भागी हुई बाबू अनंतराम के पास पहुँची।

बाबूजी ने सुना तो उनका दिल भी गुदगुदाया। हां, धर्म जरूर अलग अलग है पर हैं तो हिंदू। वह भी बाबू गिरिधर के गले मिल आये। दोनों घरों में विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

शादी में दो दिन बाकी थे। बाबू अनंतराम घर के सहन में बैठे हलवाइयों से मिठाई तुलवा रहे थे, और उनकी पत्नी पास बैठी बेटी

के दहेज में आखिरी मोती टांक रही थी। बाबू गिरिधर के घर का पुरोहित दहलीज पर आ खड़ा हुआ और हाथ बांध कर बोला।

“श्रीमान ने सूचना दी है कि विवाह-संस्कार सनातन रीति से होगा। तारा डूबने से पहले दो बजे का मंगल समय निश्चित हुआ है। कृपा करके अपने संबंधियों को समय पर बतला दें।”

बाबू अनंतराम तंद्रा से जागे।

“क्या कहा, पुरोहितजी?”

पुरोहितजी ने फिर हाथ बांध कर अपना वाक्य दोहरा दिया कि शुभ विवाह तारा डूबने से पहले सनातन रीति से होगा।

“यह कैसे हो सकता है? विवाह वैदिक रीति से होगा। मैंने सारा आयोजन कर लिया है।”

पुरोहितजी ने फिर हाथ बांधे। “मैं कह दूँगा, भगवन्, पर श्रीमान् ने कहा था कि विवाह सनातन रीति से होगा।”

पुरोहितजी तो कह कर चले गये पर बाबू अनंतराम का मन विचलित हो उठा। पास बैठी हुई श्रीमती से बोले, “सुना तुम ने?”

“हां, सुना है। पर इसमें क्या है, किसी रीति से हो जाये—विवाह तो होगा ही।”

पर इस वाक्य ने आग पर तेल का काम किया। बाबू अनंतराम झुंझला उठे। “अपने घर में सनातन रीति से विवाह करूं? समाज में नाक कटवा लूं? हम आर्य भाइयों ने प्रण ले रखा है कि सब संस्कार वैदिक रीति से होंगे।”

बिना जवाब का इंतजार किये बाबू अनंतराम अंदर गये, कागज कलम उठाई, और बाबू गिरिधर के नाम पत्र लिख दिया।

महानुभाव, नोट करें कि विवाह वैदिक रीति से प्रातः पाँच बजे होगा। मैंने मारा प्रबंध कर दिया है। क्षमा करें, हम आर्य भाई तारा डूबने और चढ़ने को नहीं मानते, इसलिए सुविधा के अनुसार समय

पाँच बजे का निश्चित किया है। कृपया फिर नोट करें कि विवाह वैदिक रीति से होगा।”

उधर बाबू गिरिधर भी कमर बांधे खड़े थे। उन्हें भगवान ने पहला अवसर धर्म निभाने का दिया था, उसे कैसे छोड़ देते ? पत्र मिलने पर उन्होंने भी कलम उठाई और अपना वचन दोहरा दिया। दोनों धर्मानुयाइयों में चिट्ठी-पत्री चलने लगी, और दिन में तीन-तीन चिट्ठियाँ आने जाने लगीं। पर वहाँ कौन मानने वाला था ! आखिर बाबू गिरिधर की ओर से एक संक्षिप्त सा पत्र आया।

“बाबूजी, मैं इस बहस को लबा नहीं करना चाहता। यदि आप को यह भी आपत्ति हो तो आप बेशक कुछ समय और सोच-विचार कर लें। विवाह की तारीख स्थगित की जा सकती है। मुझे बेटे को ब्याहने में कोई जल्दी नहीं है।”

बाबू अनंतराम ने खत पढ़ा और गुरति हुए अपनी कलम उठाई, पर श्रीमती ने हाथ पकड़ लिया।

“तुम्हारी अक्ल ठिकाने है कि नहीं ? कभी बेटेवालों ने भी आँखें दिखाई हैं ? तुम्हें धर्म की पड़ी है, जो ब्याह रुक गया तो बेटे का क्या करोगे ?”

बाबू अनंतराम फिर गुराए, दाएं से बाएं हुए। पत्नी को नास्तिक और विधर्मी कहा, अपने भाग्य को कोसा, बाबू गिरिधर को बुरा भला कहा, पर कलम को ज्यों का त्यों रख दिया। फिर गुस्सा थूक कर बाबू गिरिधर के घर गए, और उन्हें जैसे बन पड़ा समझाया—दीनता से भी और धृष्टता से भी। पर कुछ न बना, आखिर गम खाकर लौट आए।

बारात आई, उसके साथ दो सजे-सजाये तिलकधारी पुरोहित भी आये, और तारा डूबने से पहले, सनातन मंत्रों के उच्चारण के साथ बेटे का ब्याह हो गया।

बाबू अनंतराम चपत खा तो गये, पर तिलमिलाहट बनी रही।

दिल को समझाते कि आखिर बंटी तो सुखी रहेगी, पर दिल कब मानता था। शहर भर के आर्य भाइयों ने विवाह देखा था, तरह तरह की टीका-टिप्पणी होने लगी। बाबू अनंतराम गरदन झुकाये सब कुछ सुनने लगे। कोई सीधा सवाल पूछता, तो नजर नीचा कर के कहते, “भाई, मैं क्या करूँ, मेरी घरवाली सनातन विचारों की औरत है। उसने धृष्टता की वरना मैं कब मानने वाला था।”

बीस साल का कमाया हुआ धर्म बाबू अनंतराम एक दिन में गँवा बैठे।

उधर बाबू गिरिधर अब मित्र से संबंधी हो गये थे। पहले केवल दोस्ती थी, अब लोकलाज, दिखावा, रिश्तेदारी सभी निभानी पड़ती थी, अभी विवाह को हुए महीना भर भी न बीत पाया था कि बाबू गिरिधर का पुरोहित फिर दहलीज पर आ खड़ा हुआ। “श्रीमान् ने कहा है कि आज पितृ-गणों का श्राद्ध है, बीस ब्राह्मण भोजन करेंगे।”

बाबू अनंतराम क्या करते ! कह तो दिया कि हम नहीं आएंगे, हम श्राद्धों को नहीं मानते। पर जब भोज का समय आया तो श्रीमती आग्रह करने लगी। “मगे संबंधी के घर नहीं जाओगें ? लोग क्या कहेंगे ? बंटी क्या कहेगी ?”

बाबूजी दुर्बिधा में पड़ गये। आखिर वहाँ भी गये, और सिर झुकाए दिन भर ब्राह्मणों को पूरियाँ बांटते फिरे।

जब श्राद्ध समाप्त हुए तो बाबू गिरिधर ने अपने घर में गरुड़ पुराण की कथा बँठा दी, और उसका न्योता सब से पहले बाबू अनंतराम के घर भजा।

बाबू अनंतराम का मन खिन्न हो उठा। उन्हें बाबू गिरिधर के न्योतों में षड्यंत्र का आभास होने लगा। उन्हें ऐसा महसूस हुआ जैसे वह किसी जाल में फँस गये हैं और उसमें से निकलने के बजाय उसे अपने हाथों से और लपेटे जा रहे हैं। जब आर्य धर्म के सब नियम और उपनियम यों भंग होने लगे, तो उन्हें और तो कुछ न सूझा,

उन्होंने अपने घर में सत्यार्थप्रकाश की कथा बैठायी । फिर क्या था—
दोनों धर्मों में मल्लयुद्ध छिड़ गया । बाबू गिरिधर के घर शंख बजता
तो यहाँ भजन गाए जाते, वहाँ कीर्त्तन होता तो यहाँ संध्योपासना होने
लगती; वहाँ पूजा होती तो यहाँ व्याख्यान होने लगते । मुहल्ले भर के
लोग कभी एक के घर और कभी दूसरे के घर जाकर अपना परलोक
सुधारने लगे ।

पर यह सब कुछ होते हुए भी बाबू अनंतराम के दिल को चैन
नहीं मिला । उनके मन का बोझ ज्यों-का-त्यों कायम रहा । जब
अकेले बैठते तो काँटे की चुभन दिल को कुरेदने लगती । यह तो मैं
अपना धर्म कमा रहा हूँ, इसमें गिरिधर का क्या बिगड़ा ? सब
आर्य भाइयों के सामने पतित तो मैं हुआ, अब भी लोग निंदा करते हैं
तो मेरी, गिरिधर तो ज्यों का त्यों अपने धर्म पर खड़ा है ।

पर इस धर्मयुद्ध में दोस्तों की बीस बरस की दोस्ती पिस कर राख
होने लगी । पहले प्रातः की सूर बंद हुई, फिर मेलजोल खतम हुआ
और केवल शिष्टता रह गई । फिर धीरे-धीरे वैमनस्य आने लगा ।
हाथ पहले की तरह अवश्य जुड़ते, पर दिल में घृणा उठती । धीरे धीरे
सारा संबंध नमस्ते और राम-राम पर समाप्त होने लगा । पहले कभी
दिन में दो-दो बार मिल कर भी संतुष्ट न होते थे, अब कई कई
हफ्ते एक दूसरे की सूरत तक न देखते ।

मई का महीना था, दिन लंबे और रातें छोटी हो रही थीं ।
इतवार ही का दिन था । बाबू अनंतराम समाज मंदिर की ओर जाने
की तैयारी में थे । तभी बाबू गिरिधर का नौकर भागता हुआ अंदर
आया ।

“आप को बाबूजी ने बुलाया है, जल्दी चलिए ।”

“क्यों, क्या बात है ?”

“बाबूजी ने कहा है जल्दी बुला लाओ ।”

“चलो, मैं आता हूँ ।”

बाबू अनंतराम हैरान हुए, और सोच में पड़ गये। बात क्या है ? इतने सवरे बुलाने का प्रयोजन क्या हो सकता है ? कहीं बेटा दामाद में कोई झगड़ा न हो गया हो ? बाबू अनंतराम चिंतित हो उठे, और मन में इष्ट अनिष्ट की सोचने लगे। मुझ से भूल हुई जो मैंने आना जाना ही छोड़ दिया। कोई सगे संबंधियों से भी नाता तोड़ देता है ! न मालूम क्या बात हुई है। इसी चिंता में वह बाबू गिरिधर के घर जा पहुँचे। उन्होंने घर के अंदर पाँव रखा ही था कि बाबू गिरिधर सिसकते हुए आये और बाबू अनंतराम को गले लगा लिया।

“बुआ स्वर्ग सिधार गई हैं।” कहते हुए बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रोने लगे।

बाबू अनंतराम ने सुना तो पहले तो संतोष की साँस ली, फिर मुँह लटका कर, अपने शोकविह्वल मित्र को संभाले हुए अंदर चले आए।

बाबू गिरिधर की बूढ़ी बुआ जब जीवित थीं, तो बरसों से चारपाई के साथ जुड़ी रहती थीं, यों तो मृत्यु ने उनका कष्ट निवारण किया था, पर तो भी वह गिरिधर की बुआ थीं, और गिरिधर को उनके साथ अगाध प्रेम था।

आखिर जब बाबू गिरिधर के आंसू कुछ रुके तो बाबू अनंतराम ने उनके घुटने पर हाथ रखकर पूछा, “क्यों, भाई साहब, संबंधियों में किसी आदमी को भेजा है ?”

इसका उत्तर बाबू गिरिधर ने फिर रोते हुए सिर हिला कर दिया : “तुम से जो बन आयें करो, भैया। मुझे तो किसी बात की सुख ही नहीं रही।”

बाबू अनंतराम सचेत होकर बैठ गये। एक नौकर को अपने घर लौटाया, दामाद को संबंधियों के घर भेजा, बैठक में से मेज कुरसियां उठवा दीं, ताकि लोगों के बैठने के लिए जगह बन सके, और गतिविधि का सारा प्रबंध हाथ में ले लिया। घर के लोगों को भी उन्हें देखकर

उनकी पहली मित्रता के दिन याद आने लगे ।

थोड़ी ही देर में मित्र संबंधी आ पहुँचे । दोनों मित्रों की शहर में रखी रखाई थी, दोनों के संबंधी आये— धर्म के भी और रिश्ते के भी । बाबू अनंतराम हाथ जोड़ जोड़ कर लोगों को बैठाने और विदा करने लगे ।

दिन चढ़ आया था और रिश्तेदारों की भीड़ बढ़ने लगी थी । बाबू अनंतराम ने अपने दामाद को इशारे से बुलाया ।

“देखो, चिरजीव, तुम ने आर्यसमाज मंदिर तो देखा है ?”

“जी ।”

“वहां चले जाओ, बेटा, और वहां से पंडितजी को बुला लाओ ।”

दामाद क्षण भर खड़ा रहने के बाद जाने लगा तो बाबूजी ने कहा, उन्हें कहना कि संस्कार विधि लेकर ठीक दस बजे श्मशान-भूमि पर पहुँच जाएं ।”

दामाद कुछ देर तो बाबूजी के चेहरे की ओर देखता रहा, फिर एक हलकी-सी मुसकान संबंधियों से छिपाता हुआ बाहर निकल गया ।

साढ़े नौ बजे अरथी उठी, और ठीक दस बजे, संस्कार-विधि के पुनीत वैदिक मंत्रों और घृत-सामग्री की आहुतियों में शहर भर के धर्म मित्रों के सामने बाबू अनंतराम ने वैदिक रीति से मृत की आत्मा को सीधा स्वर्ग के द्वार तक पहुंचा दिया ।

इससे मृत की आत्मा को तो शान्ति मिली ही, साथ ही मित्रता की तुला में भी फिर से सन्तुलन आ गया ।



रास्ता काटने लगे, उसी रोज़ महन्त जी का माथा ठनका, किन्तु समय का रंग देख कर चुप हो गये। मगर जब वही चमार शहर के कुछ आदमियों को लेकर, दो लाल-पगड़ी वाले सिपाहियों को साथ लिये सीधे मन्दिर के चबूतरे पर चढ़ आये, तो महन्त रामदास सहन न कर सके। चिल्लाये, जो मुँह में आया कहा, एक-एक को थाप दिया, गाँव क ब्राह्मण और ऊँची जाति वाले भी इकट्ठे हुए, खून-खराबा तक हुआ, मगर किसी की कोई पेश न गई। अछूत आये और पतित पावन के मन्दिर को कलुषित कर गये। दरवाजों का खुलना था कि हर राह जाता चमार मन्दिर के चबूतरे पर चढ़ने लगा। कुजात लोगों की अपनी दुर्गन्ध होती है, उनकी आकृति में नीचता होती है, उनके श्वास की बू से रामदास का मन्दिर कलुषित हो उठा। रामदास धो-धो कर मन्दिर को साफ करते, मगर बू न जाती। इष्टदेव को भोग लगाते तो जान पड़ता जैसे चमारों की जूठन का भोग लगा रहे हों।

आखिर महन्त जी ने गाँव छोड़ दिया। गाँव से बढ़कर उन्हें अपना धर्म प्यारा था, अपना अगला जन्म प्यारा था, उसे वह क्योंकर दूषित होने देते। गाँव वालों से कह कर कि अब वह लौट कर नहीं आएँगे, अपने दो कपड़े उठाये, हाथ में लाठी और कभण्डल थामे अपने इष्टदेव को बार-बार प्रणाम करते हुए, आंसू पोंछते, गाँव से बाहर निकल गये।

रामदास जगह-जगह भटकते आखिर काशी पहुँचे। यहां चौबीसों घण्टे भगवत्-भजन की स्वर-लहरी वातावरण में गूँजती थी, दिन भर यात्रियों के टोले गंगा की स्वच्छ नील धारा में अपने मन का ताप मिटाते थे।

रामदास अस्सी घाट के पास एक धर्मशाला में टिक गये। भोजन कभी स्वयं बना लेते कभी पास ही राव गुलाबसिंह के लंगर से मिल जाता। पहले कुछ रोज़ रामदास काशी-दर्शन करते रहे। काशी की पंचकोसी प्रदक्षिणा की, एक-एक घाट पर स्नान किया, एक-एक मंदिर

में देव दर्शन किये । दशाश्वमेध घाट पर नित्यप्रति कीर्तन होता था वह सुनते रहे । धीरे-धीरे उनके विक्षिप्त मन को सान्त्वना मिली और उन्होंने गाँव लौटने का विचार बिल्कुल छोड़ दिया ।

मगर फिर सहसा एक के बाद दूसरी दो-तीन ऐसी बातें हो गईं कि उनके पाँव फिर उखड़ने लगे और मन उचाट रहने लगा ।

चन्द्रग्रहण का पर्व निकट आ रहा था और बनारस में यात्रियों की भीड़ बढ़ने लगी थी । धर्मशालाएं और मन्दिरों के आंगन खचाखच भरने लगे थे । रामदास इस पर्व पर गंगा-स्नान का पुण्य कमाने की बड़ी उत्सुकता से इन्तज़ार कर रहे थे । तब एक रोज़ बाहर से लौटकर क्या देखते हैं कि उनका सबका-सब सामान चोरी हो गया है । सामान बहुत न था, कुछ कपड़े, कुछ नकदी, दो-एक बर्तन । रामदास व्याकुल हो उठे । मन्दिर का कोना-कोना छान मारा मगर कहीं सामान का पता न चला । रामदास बरसों मन्दिर के महन्त रह चुके थे, चोर पहचानने में उनकी नज़र तेज़ थी मगर पर्व की इस बढ़ती भीड़ में उनकी सूझ काम न आई । एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरे । सूर्य निकल आया था और रामदास के माथे पर पसीना चमकने लगा था । पहली बार काशी का पुण्य धाम उन्हें एक पराया अजनबी शहर नज़र आने लगा, जहाँ कोई वाकिफ न था, कोई परिचित न था । सामान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रामदास की साँस फूलने लगी । दर्जनों लोग मन्दिर में आ-जा रहे थे, उन्होंने एक-एक से पूछा, मगर सामान का कुछ पता न चला ।

इधर सामान चोरी हुआ, उधर राव गुलाबसिंह का लंगर दस दिन के लिये बन्द हो गया । सामान की खोज के बाद रामदास थके-हारे भोजन करने गये तो वहाँ ताला चढ़ा हुआ पाया । पर्व नज़दीक आ रहा था, धनाढ्य की मुफ्तखोरों की बढ़ती संख्या मंज़ूर न थी । काशी की आबादी हर रोज़ बढ़ रही थी । कोई लंगर न था जिस पर साधुगण

बकरियों के रेवड़ की तरह मिमियाते हुए न आ पहुँचते हों। पहले पैसे लुटाओ, फिर पुण्य कमाओ, यह धनाढ्य को मंजूर न था। उन्हें धीमी लौ पर पुण्य पकाना मंजूर था, दस पाँच ब्राह्मण पत्तल चाट जायें और महिमा का बखान करते जायें।

तीन दिन के अन्दर-अन्दर रामदास की स्थिति एक यात्री से लुढ़क कर पथ के भिखारी की-सी बन गई। चेहरा सूखकर पीला पड़ गया, सांस दमे की पुरानी बीमारी से फूलने लगी, और पेट में भूख के कारण हर वक्त दर्द रहने लगा और इसी बेचारगी में रामदास अपने हाथ का कमण्डल भी खो बैठे। हाँफते हुए सड़क के किनारे बैठे थे कि वह भी कहीं उठ गया। जो हाथ में कमण्डल थामे रहो, तो काशी में तुम साधु हो, चाहे बड़े साधु चाहे छोटे, कमण्डल बढ़ाने पर लोग कुछ-न-कुछ उसमें डाल ही देते हैं, कोई दुस्कारता नहीं। मगर जो हाथ में कमण्डल नहीं तो तुम रास्ते के भिखमंगे हो, तुम्हारी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखेगा।

इस स्थिति में रामदास को बार-बार गांव की याद आयी। वहाँ कोई पूछने वाला तो था, यों गलियों में मरने की नौबत तो न आती। जो चाहता जंसे भी हो गिरते पड़ते लौट जायें। मगर जब मन्दिर की दुर्दशा का ध्यान आता कि वह मन्दिर के चबूतरे पर बैठे होंगे और डोम-चमार उनकी खिल्ली उड़ाते हुए मन्दिर पर चढ़ जायेंगे, तो उनका हृदय विरक्त हो उठता। अब तो यहीं पर देहविसर्जन होगा। जो भगवान को मंजूर हुआ तो बच जायेंगे, नहीं तो गंगामाय की गोद में आत्म-समर्पण कर देंगे।

चन्द्रग्रहण का पुण्यपर्व आ पहुँचा। शाम का वक्त था। हजारों स्त्रियाँ, पुरुष, साधु, भिखारी, बच्चे, बूढ़े सब एक बहाव में बहते हुए, हरिनाम जपते हुए, दशाश्वमेध घाट की ओर जा रहे थे। और इसी भीड़ पर आँखें गड़ाये रामदास, मँले-फटे कपड़े पहने, हाथ में एक टूटा हुआ टीन का डिब्बा उठाये, सड़क के किनारे खड़े थे। रामदास दो दिन क्षुभ्र थे। एक जगह पर दो दिन पहले उन्हें एक रोटी और थोड़ी-सी

चाल मिल पाई थी, मगर पेट की ज्वाला आज फिर धधकने लगी थी। रामदास ने कभी किसी के सामने हाथ न पसारे थे, मगर अब हाथ पसारने की नौबत आ गई। धीरे-धीरे गिरते-पड़ते भीड़ में रामदास भी दशाश्वमेध घाट तक जा पहुँचे। सीढ़ियों के ऊपर खड़े होकर उन्होंने देखा कि हजारों यात्री घाट उतरकर गंगा में स्नान कर रहे हैं, और जो स्नान कर चुके हैं वे लौटते हुए, पुण्य कमाने की मंगल कामना में भिखमंगों को खील व लड्डू बांट रहे हैं। दशाश्वमेध घाट की चौड़ी गहरी सीढ़ियों के बीचों-बीच भिखमंगों की कतार बँठी थी। रामदास ने उन्हें पहले भी देखा था, और देखकर आँखें फेर ली थीं। वह सबके-सब कोढ़ी थे, अपाहिज भिखमंगे, किसी के हाथ की उँगलियाँ गलाकर गिरी हुईं, किसी के होंठ कटे हुए, किसी का सारा शरीर सूझा हुआ और त्वचा पर पीप बहती हुई।

रामदास एक तरफ होकर खड़े हो गये। सीढ़ी पर बैठा एक कोढ़ी जिसके एक हाथ की सब उँगलियाँ गिर चुकी थीं। अपनी हथेली को बायें से दायें और दायें से बायें दिखा रहा था। रामदास के देखते ही उसकी चढ़र पर दो यात्री तीन-चार खील के लड्डू फेंक गये थे। कुछ-एक पैसे और लड्डू पहले से पड़े थे।

रामदास का संकोच तनिक दूर होने लगा। उन्होंने धीरे से बढ़कर एक जाते हुए यात्री को बाँह पर छूते हुए कहा, “ए सुनो बाबा, मैं दो दिन से भूखा हूँ, कुछ दे जाओ।”

मगर यात्री ने बिना रामदास की ओर देखे बाजू झटक दिया। रामदास पानी-पानी हो गये। मगर क्या करते, मजबूरी ने फिर हाथ बढ़वाये। एक स्थूलकाय बंगालिन अपने नौकर से खील के लड्डूओं का पछड़ा उठवाये चली आ रही थी, और सीढ़ियों पर बैठे एक-एक भिखारी को बाँटती जा रही थी। रामदास उसके सामने पहुँच कर गिड़गिड़ाये, मगर बंगालिन महिला ने रामदास को एक नजर देखकर उससे गल्ला बचाते हुए मुँह फेर लिया।

तब रामदास को इस बात का बोध हुआ कि सीढ़ियों पर बैठे हुए कोढ़ी भिखारी इस दान के सतत पात्र हैं, जो औरों को नहीं मिल रहा है। रामदास उनमें न बैठना चाहते थे। अभी वह कोढ़ियों की श्रेणी में नहीं पहुँचे थे, उन्हें देखकर अब भी उनके बदन में कँपकँपी उठती थी। मगर हर एक कोढ़ी के सामने खील के लड्डू धरे पड़े थे। रामदास ने दूर तक देखा। एक-एक कोढ़ी एक-एक सीढ़ी पर यों आश्वस्त बैठा था, जैसे सेठ अपनी गद्दी पर बैठता है। उनके भरे कमण्डलों और भोलों को देखकर रामदास का मन ईर्ष्या से भर उठा।

रामदास ने कितनी ही बार आने-जाने वाले यात्रियों से हाथ बढ़ा कर याचना की, गिड़गिड़ाये मगर कुछ प्राप्त न हुआ। आखिर हारकर उन्होंने बड़े ध्यान से कोढ़ियों की पाँत को देखा, सिर पर दूसरी सीढ़ी खाली पड़ी थी, उसपर कोई कोढ़ी न बैठा था; शायद उठ गया हो, शायद बैठा ही न हो। उससे निचली सीढ़ी पर एक काले रंग का बूढ़ा गंजा कोढ़ी, लातों पर पट्टियाँ बाँधे बैठा था। उसके नीचे एक कटे नाक-वाली औरत थी।

रामदास बढ़ते हुए खाली सीढ़ी पर जा खड़े हुए और अपनी मैली चद्दर बदन पर से उतारकर दोहरी करके बिछाने लगे। अभी वे चद्दर बिछा भी न पाये थे कि बूढ़े कोढ़ी ने देख लिया। घूमकर कड़क कर बोला, “कौन है ? इधर क्या है ?”

“क्यों बाबा, चिल्लाते काहे को हो ? इधर खाली जगह है, हम बैठ रहे हैं।”

रामदास के चद्दर बिछाने की देर थी कि कोढ़ी ने डण्डा उठा लिया, “हटो यहाँ से, सिर फोड़ दूँगा, साला चमार, मुसलमान कहीं का। जानता नहीं इधर ब्राह्मण बैठते हैं ?”

रामदास हड़बड़ा कर उठ बैठे। फिर सँभलकर बोले, “हम भी ब्राह्मण हैं भाई, सारस्वत ब्राह्मण।”

मगर कोढ़ी डण्डा उठाये, कराल रूप धारण किये, गुस्से से भाग उगलता हुआ चिल्लाने लगा, “खोपड़ी फोड़ दूँगा। यह जगह ब्राह्मण के बैठने की है। झूठ बोला, डोम मुसलमान कहीं का। टीन का डिब्बा उठाये घूमता है, कहता है ब्राह्मण है।”

उसका यों चिल्लाना था कि कितने ही कोढ़ी सीढ़ियों पर रेंगते हुये ऊपर चढ़ने लगे और गालियाँ बकने लगे, कुछ एक राह जाते यात्री भी रुक गये और रामदास को बुरा भला कहने लगे। रामदास हाथ में टीन का डिब्बा पकड़े हुए हतबुद्धि होकर कभी यात्रियों के मुँह की ओर और कभी कोढ़ियों की तरफ देखने लगे।

फिर उन्हें कुछ और तो न सूझा, ऊँची आवाज में बोलने लगे, “मैं भूखा हूँ, कुछ दया करो।”

इतने में कहीं से दो-तीन स्वयंसेवक भी लाठियाँ उठाये आ गये। एक ने क्षण भर मामले को समझने की कोशिश की और दूसरे क्षण रामदास को बांह से पकड़कर खींचकर एक तरफ धकेल दिया और यात्रियों के लिये रास्ता साफ कर दिया।

रामदास अब भी हैरान और हतबुद्धि होकर कोढ़ियों की पाँत को देखे जा रहे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि हो क्या रहा है। क्या घाट पर भीख माँगने के लिये भी ब्राह्मण होना जरूरी है? मैं तो मन्दिर का पुजारी था, यह कोढ़ी किस मन्दिर के पुजारी हैं?

अँधेरा बढ़ रहा था और यात्रियों का समूह और भी गहरा होने लगा था। चन्द्रग्रहण लगने में देर न थी। शंखनाद और आरती-भजन से वातावरण गूँजने लगा था। रामदास काँपते घुटनों के बल धीरे से उठे, और उसी जनप्रवाह में फिर धक्के खाते हुए बहने लगे। एक जगह एक गली के सिरे पर एक मन्दिर नज़र आया जिसके चबूतरे पर कुछ साधु बैठे भात बना रहे थे। उन्हें देखते ही रामदास का गला रुँध गया, पाँव मन्दिर की ओर बढ़ने के लिये उठे, मगर फिर साहस ने साथ छोड़ दिया। कहीं वे भी उन्हें चमार-डोम समझ कर मन्दिर से उतार दें तो

उनके पास ब्राह्मण होने का सबूत ही क्या है ? मन्दिर के चबूतरे पर उन्होंने अपनी उमर काटी थी मगर इस मन्दिर के नजदीक जाते हुए उनके पाँव काँपने लगे । याचना भरी नज़रों से उनकी ओर देखते रहे, फिर लौट पड़े ।

उनकी टांगें जवाब दे रही थीं और आँखों के सामने बार-बार अन्धेरा छा रहा था, जब एक दूसरी गली के बाहर उन्होंने एक लम्बी कतार भिखमंगों की बँठी हुई देखी । रामदास ने देखा दूर अन्दर गली तक कतार बढ़ी हुई है, जहाँ कुछ बँट रहा है । रामदास इधर-उधर देखकर उस पाँत की ओर बढ़ गये । पाँत में खड़े होने लगे तो पीछे बैठे भिखमंगों ने उन्हें देख लिया । रामदास काँपती आवाज़ में फिर से बोल उठे, “मैं भी ब्राह्मण हूँ बाबा, बहुत भूखा हूँ, दो दिन से भूखा हूँ । बीमार हूँ । कुछ नहीं मिलेगा तो मर जाऊँगा । कुछ दया करो ।”

इस पर एक भिखमंगा हँसने लगा । बोला, “आओ, आओ ब्राह्मण देवता, मगर हम तो ब्राह्मण नहीं हैं, सच बोल दें ।”

“तो तुम कौन हो भैया ?

“हम तो छोटी जात के हैं, जो समझ लो ।”

रामदास धीरे से पाँत के सिरे पर बैठ गये । दिल को ढाढ़स हुआ कि यहाँ से उन्हें कोई उठायेंगा नहीं । और जो भाग्य में हुआ तो कुछ मिल भी जायगा ।

रामदास भौंक-भौंककर गली के अन्दर देख रहे थे कि प्रसाद बाँटने वाले कब तक उनके पास पहुँच जायेंगे, या पहुँचेंगे भी कि नहीं, जब भिखमंगे ने कहा, “अभी तक कुछ नहीं मिला बाबा ? आज तो सबके डिब्बे भरे हुये हैं । कहाँ से आया है ।”

रामदास ने भिखमंगे की ओर देखा । मगर कोई उत्तर देने से पहले ही उनका गला रुँध आया और आँखें डबडबा आईं ।

“खील के लड्डू लीगे बाबा ? हमारे पास बहुत हैं, आज बहुत खाये ।”

कहते हुए अपने भोले में से निकाल कर ब्राह्मण बाबा के डिब्बे में डालने लगा । रामदास सहसा सकुचाये और उन्होंने हाथ से डिब्बा खींच लिया ।

“अच्छा नहीं लो बाबा, हम किसी का धर्म क्यों बिगाड़ेंगे ।” भिखमंगा फिर हँसने लगा ।

रामदास के होंठ कुछ कहने के लिये खुले मगर फिर कांपकर बन्द हो गये । आँखों में आँसू छलक आये थे । थोड़ी देर बाद कृतज्ञता-भरी नज़रों से भिखमंगा की ओर देखकर उन्होंने सिर झुका लिया और टीन का डिब्बा उसके सामने कर दिया ।

“मेरे पास रोटी भी है बाबा, रोटी लो ?”

महन्त रामदास का गला दूध गया । वे सिर झुकाये चुपचाप खील के लड्डू तोड़ने लगे ।

उस रात जब सड़क के किनारे रामदास चद्दर बिछाकर लेटे तो मन ऐसा उचाट था कि सँभलने में न आता था । बार-बार कभी कोढ़ी ब्राह्मणों की पाँत और कभी गाँव की तस्वीर आँखों के सामने घूमने लगती ।



पाप-पुराय



मालती और काका घर में ऊधम मचा रहे थे। खाट पर चढ़े हुए कभी एक दूसरे को धकेल, कभी बाल खींच गिरा, कभी छलांगें लगा, हो-हल्ले में घर सिर पर उठा रखा था, जब सीढ़ियों पर सहसा बाबूजी के कदमों की आवाज़ आई। बोझल भारी बूट, बीच में किसी-किसी वक्त सीढ़ी पर घड़ी के टिकने की आवाज़, सुनते ही पहले मालती और फिर काका खड़े हो गये। मालती तो झट से खाट पर से उतर आई और सीधी भाग कर मां की पीठ के साथ जुड़ कर खड़ी हो गई जो कोने में बैठी रसोई बना रही थी, काकू खाट पर ही खड़ा रहा।

“क्या है मालती ? इधर क्यों घुसड़ी चली आ रही हो।”

मगर दूसरे ही क्षण मालती की ओर देख कर बोली :

“चट्टी नहीं पहनी ! जा झट से पहन ले। वह कुर्सी के नीचे पड़ी है। जा, नहीं तो बाबू जी आ रहे हैं।”

मालती दौड़ती हुई कुर्सी की ओर गई, मगर वह अभी कमरे के दरमियान तक ही पहुँच पाई थी कि बाबू जी की काय, दहलीज़ पर आन खड़ी हुई—ऊँचा लम्बा कद, बड़ी-बड़ी काली मूँछें, बन्द गले का कोट, एक हाथ में घड़ी दूसरे हाथ में सब्जी का थैला। खड़े होते ही उन्होंने देख लिया कि मालती केवल एक बनियान पहने भागी जा रही है। झट से बोले :

“मालती।”

मालती जहाँ थी, वहीं लरज़ कर खड़ी रह गई।

“इधर आओ।”

सब्जी का थैला तिपाई पर रख कर, फिर पगड़ी उतार, सिर पर

हाथ फेरते हुए, बाबू जी खाट पर बैठ गये ।

इस पर मालती की माँ ने धीरे से घूम कर कहा :

“अभीं पहने लेती है । जा मालती चट्टी पहन, खड़ी-खड़ी क्या देख रही है ?”

“तुम चुप रहो जी, इधर आओ मालती ।”

बाबू जी बच्चों को जन्म से सदशिक्षा देने के हामी थे । उनका कहना था कि बच्चे की शिक्षा यूँ तो गर्भ से ही शुरू हो जाती है—अभिमन्यु को चक्रव्यूह तोड़ने की शिक्षा गर्भ में ही मिली थी—मगर जो उनके बच्चे गर्भ से शिक्षा लेकर नहीं आये, तो अब उन्हें उसमें क्यों बचित रखा जाये । काकू दो बरस का था और मालती चार बरस की हो चली थी । सदाचार की शिक्षा का बीज तो बचपन ही में मस्तिष्क में पड़ जाये तो फलता है, बाद में तो तरह-तरह के संस्कार अंकुर तक नहीं फूटने देते ।

“इधर आओ मालती ।”

मालती जो अभी तक कमरे के बीच में खड़ी बाबू जी को देखे जा रही थी, अब धीरे-धीरे सरकती हुई उनकी खाट के पास आ खड़ी हुई ।

“चट्टी क्यों नहीं पहनी ?”

जवाब में मालती ने अपनी बाईं गाल झुका कर बायें कन्ने के साथ जोड़ दी, और झुकी हुई नज़रों से बाबू जी के स्थूल दाएँ हाथ को देखने लगी कि वह कब गाल पर पड़ने के लिये उठेगा ।

“मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है कि चट्टी पहन के रहा कर । बोल, फिर चट्टी पहने बिना घूमेगी ?”

मालती ने सिर हिलाया ।

“लगा कान को हाथ ।”

मालती ने दोनों हाथों से दोनों कान पकड़ लिये ।

“फिर चट्टी पहने बिना घूमेगी ? बोल कभी नहीं घूमेगी ।”

“कभी नहीं घूमूंगी ।”

“फिर बोल कभी नहीं घूमूंगी ।”

“कभी नहीं घूमूंगी ।”

“चट्टी पहने बिना कभी नहीं घूमूंगी ।”

“चट्टी पहने बिना कभी नहीं घूमूंगी ।”

मालती की आस बंधने लगी । जो अब तक थप्पड़ नहीं पड़ा, तो अब नहीं पड़ेगा । बाबू जी ने थप्पड़ रसीद करना हो तो छूटते ही कर देते हैं, अब जो प्रश्नोत्तरी शुरू हो गई, तो मतलब है थप्पड़ टल गया । मालती का फूलता हुआ सांस धीरे-धीरे आश्वस्त गति पर आने लगा, गर्दन भी सीधी होने लगी, और आँखों की पलकें उठ कर बाबूजी का चेहरा देखने लगीं ।

“जो चट्टी न पहनी तो क्या होता है ?”

मालती बोली : “पाप चढ़ता है ।”

“और क्या होता है ?”

“ईश्वर जी नाराज़ होते हैं ।”

“और जो माँ बाप का कहा नहीं मानें तो क्या होता है ?”

“पाप चढ़ता है ।”

“फिर तूने चट्टी क्यों नहीं पहरी ?”

मालती चुपचाप बाबू जी के मुँह को देखने लगी ।

“गायत्री मन्त्र याद किया है ?”

मालती ने बिना हाँ या न का जबाब दिये गायत्री मन्त्र पढ़ना शुरू कर दिया ।

“आज संध्या की है ?” फिर घर्मपत्नी की ओर मुँह करके पूछा :
“बच्चों ने संध्या की है ?”

माँ, बिना पीठ घुमाये बोली :

“हाँ, साथ में दोनों बैठे थे ।”

फिर मालती की ओर देखते हुए बोले :

“वेद कितने हैं ?”

“चार ।” मालती ने कहा ।

“वेदांग कितने हैं ?”

“छः ।”

“आर्य्य समाज के नियम कितने हैं ?”

“दस ।”

“और वह दीवार पर क्या लिखा है ?”

बाबू जी ने दीवार पर महर्षि के बृहत् चित्र के साथ, दोनों तरफ वदिक सूत्र और सदुपदेश अपने हाथ से लिख रखे थे, क्योंकि बच्चों पर संस्कार उनके वायुमण्डल से पड़ते हैं ।

“सत्यं वद, धर्मं चर ।” मालती ने कहा ।

“उसके साथ लाल स्याही में क्या लिखा है ?”

“सादापन जीवन है, सजावट मृत्यु है ।”

“उसके नीचे ।”

“पुरुषार्थ जीवन, आलस्य मृत्यु है ।”

“उसके नीचे ।”

“सदाचार जीवन, दुराचार मृत्यु है ।”

इतना कह चुकने के बाद बाबू जी मालती का कान पकड़ कर बोले :

“चार बरस की होने को आई । तेरे जितनी लड़कियां तो घर का काम करती है ।”

मालती बड़प्पन के गर्व में फूल कर बोली :

“चट्टी काकू ने भी नहीं पहनी ।”

अब बाबू जी ने नज़र उठा कर खाट की ओर देखा । काकू अलमस्त नंगा, एक हाथ में बनियान थामे, दूसरा मुँह में दबाये, खड़ा खड़ा कौतुक देख रहा था ।

“उतर नीचे, सूअर !” बाबूजी ने कहा, फिर मालती को सम्बोधित करते हुए बोले : “चलो पहनो चट्टी, और इसे भी पहनाओ।”

मालती भागी हुई गई, कुर्सी के नीचे से चट्टी उठा कर पहले खुद पहनी, फिर खाट के नीचे से काकू की चट्टी उठा कर काकू को पहनाने लगी। जब पहना चुकी तो बाबू जी की फिर आवाज़ आई :

“अब जाओ दोनों नीचे। मुझे आराम से बैठने दो।”

मालती और काकू, एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए धीरे-धीरे कमरे से बाहर चले गये।

“तुम्हें मैं कितनी बार समझाऊँ कि बीच में नहीं बोला करो। तुम खुद बच्चों को बिगाड़ती हो”। बच्चों के चले जाने के बाद बाबूजी धर्मपत्नी पर बरस पड़े।

इस पर धर्मपत्नी बैठे बैठे ही बोली।

“छोटे छोटे दो बच्चे हैं, इनकी भी तुम ताड़ना करते रहते हो। तुम्हारे कदमों की आवाज से वह डरते हैं”।

“अभी दो हैं तो सदा तो नहीं रहेंगे। इनकी ही सदशिक्षा न हुई तो सारी सन्तान बिगड़ जाएगी।”

श्रीमती इस पर सकुचाई और धीरे से बोली :

“चार बरस की बच्ची है, उतार देती है, मैं कहाँ उसके पीछे पीछे भागती फिरूँ। क्या हुआ जो चट्टी उतर गई” ?

बाबूजी सुनकर हैरान रह गये :

“क्या हुआ ? अभी हुआ ही कुछ नहीं ? इसी तरह बच्चों के आचार बिगड़ते हैं, और कैसे बिगड़ते हैं”।

“अभी हैं कितने से ? बड़े होंगे अपने आप सीख लेंगे। जो सिखाते हैं यूँ पीछे थोड़े पड़ जाते हैं जैसे तुम करते हो।”

“बस बस रहने दे अपना उपदेश। और नहीं तो मुझे सिखाने चली है।”

“तो सिखा लो जो सिखाना हो, मैं क्या कहती हूँ।”

“सिखाऊंगा नहीं, छोड़ दूँगा ? दो तीन बार ऐसे ही कान खींच दिये तो चट्टी पहने बिना नहीं घूमेंगे। तीर की तरह सीधा कर दूँगा दोनों को, देख लेना।”

बीवी पति की धृष्टता जानती थी, चुप रही।

इधर यह सद्वार्तालाप चल रहा था, उधर एक बच्चे की फिर चट्टी उतर गई।

दोनों बच्चे जब सीढ़ियाँ उतर कर नीचे आये तो सामने पड़े रेत के ढेर पर खेलने लगे। रेत ढकी थी और रात की ओस से गीली भी। बैठते ही दोनों की चट्टियाँ गीली हो गईं। उन्होंने इस की परवाह नहीं की। रेत के ढेर पर चढ़कर पहले तो काकू चहकने लगा, “ओई ओई !” और रेत उछालने लगा, फिर रेत पर लेट गया। उधर मालती रेत में गुड़िया का घर बनाने लगी। मगर जब मालती तीन घर बना चुकी और चौथा बनाने के लिये उठी तो उसने देखा कि काकू रेत पर बैठा सिद्ध योगियों की तरह हवा में देख रहा है।

“उठ काकू, मुझे यहाँ घर बनाना है।”

मगर जब फिर भी काकू नहीं उठा और मालती उसे वहाँ से धकेलने लगी तो काकू ने दोनों हाथों से कुर्ता उठाया और चट्टी दिखाता हुआ बोला :

“चट्टी।”

“हा ! चट्टी पर पेशाब कर दिया। काकू, मैं मां जी से कहूँगी।”

काकू ने फिर चट्टी दिखाई : “चट्टी !”

फिर काकू धीरे से उठा, और बोझल रेत और पानी से सनी चट्टी को थामे, रेत के ढेर के नीचे आ खड़ा हुआ, फिर झट से चट्टी खिसका कर उतार फेंकी।

“हा ! चट्टी उतार दी, बाबूजी पीटेंगे । काकू पैरनंगा, चट्टी भी नहीं पहनीं ।”

काकू का मन दुविधा न जानता था । उसकी समझ में यह बात आती भी न थी कि जो चट्टी पहने-पहने पेशाब करो तो मां पीटती हैं, और जो उतार दो तो बाबूजी पीटते हैं । मालती की बात सुनकर काकू ने एक बार चट्टी की ओर देखा, मगर उस गीली, बोझल चट्टी को उठा कर पहनने को उसे कोई इच्छा न हुई ।

“काकू पैर नंगा जी, हम कह देंगे काकू पैर नंगा ।” मालती फिर किलकारी लेकर चिल्लाई ।

थोड़ी देर तक तो काकू हतबुद्धि बहिन की किलकारियाँ सुनता रहा, फिर वह भी हँसने और उछलने लगा और रेत की मुट्टियाँ भर भर कर फेंकने लगा ।

धूप चढ़ आई थी और बाबूजी स्नानादि से निवृत्त हो चौकी पर बैठे स्वाध्याय कर रहे थे, अब उनके स्वाध्याय में विघ्न पड़ने लगा । दरवाजा बन्द था मगर दरवाजे के बाहर बरामदे में मालती और काकू की आवाजें आने लगीं । बाबूजी का ध्यान उचट गया और बार बार कान बच्चों के वार्तालाप की ओर जाने लगे । मगर थोड़ी ही देर में उनका चेहरा गर्व और उल्लास से चमक उठा और वह धर्मपुस्तक पर से आँखें हटाकर बड़े ध्यान से बच्चों की बातें सुनने लगे । फिर धीरे से अपनी स्त्री को बुलाकर बोले :

“जरा इधर आओ ।” और आप भी कुछ उठकर दरवाजे की ओट में जाकर खड़े हो गये, और दरवाजे के साथ कान लगाये सुनने लगे । श्रीमती भी वहीं आ पहुँची । मालती काकू को कह रही थी :

“चट्टी पहन काकू । चट्टी नहीं पहनों तो पाप चढ़ता है ।”

थोड़ी देर बाद फिर मालती की आवाज आई :

“मेरा अच्छा भाई, चट्टी पहन ले ।”

थोड़ी देर चुप रही। जाहिर था कि काकू धर्मोपदेश दत्तचित्त हो कर सुन रहा है, स्वयं कोई जवाब नहीं दे रहा।

“जो चट्टी नहीं पहनते उन्हें परमात्मा जी मारते हैं। परमात्मा जी के पास इतनी बड़ी सोटी है, बाबूजी से भी बड़ी।”

फिर चुप। इसके बाद मालती की भुँभलाई हुई आवाज़ आई :

“नहीं पहनता काकू ? मैं बाबूजी को कहूँगी। चल अन्दर।”

काकू फिर भी चुप था।

बाबूजी अपनी शिक्षा के सतत प्रभाव पर मन ही मन खिल उठे थे। बेटी की इस धर्मभीरुता और आज्ञाकारिता पर गद्गद् हो रहे थे। श्रीमती की ओर झुककर बोले :

“देखा शिक्षा का प्रभाव ? बच्चे सीखते हैं या नहीं ? कितनी सयानी हो रही है तेरी बेटी।”

फिर सयानी बेटी मालती को शाबाश देने के लिये उन्होंने धीरे से दरवाज़ा खोला। मगर नज़र बाहर डालते ही झेंप गये। आज्ञाकारी बेटी एक हाथ में काकू की चट्टी उठाये, दूसरे हाथ से काकू को पकड़े, अन्दर की ओर खींच रही थी, और काकू परेशान हतबुद्धि, उसके साथ-साथ घिसटता आ रहा था।

“चल अन्दर मैं बाबूजी को कहूँगी।”

और बाबूजी को देख कर, मालती बड़े गर्व से बोली :

“देखो बाबूजी, काकू फिर पैर नंगा है, चट्टी नहीं पहनता। इसे पाप चढ़ेगा न ?”



ललिता



ललिता के ब्याह की चर्चा घर में क्या हुई कि मां-बाप में झगड़ा खड़ा हो गया। मां कहने लगी :

“मैं इस सम्बन्ध के हक में नहीं हूँ। हम अमीरों के घर में बेटो देते नहीं सुहाते। तुम हाथ जोड़कर माफी माँग लो।”

बाप बोला—“तेरी अकल ठिकाने है या नहीं? लड़का ढूँढ़ते मेरी जूतियाँ घिस गई हैं, अब भाग्य से जो अपने आप लड़का मिला है तो तू बिगड़ बैठी है। अमीर है तो क्या, हम उनसे कुछ मांगने जा रहे हैं? लड़की अच्छे घर जायेगी, खायेगी, पहनेगी, हमें भी बूढ़ापे में कोई पूछने वाला होगा।”

“तुम सब ठीक कहते हो, ललिता के बाप, पर मुझे डर लगता है। वह इसलिये बेटो मांगते हैं कि हमारी ललिता खूबसूरत है, वरना बरसों इसी शहर में रहते हो गये, कभी पूछा तक नहीं, पहचाना तक नहीं। हम अपनी चादर देखकर पाँव पसारेंगे। हम वहाँ ब्याह नहीं करेंगे। मुझसे और खाक नहीं छानी जाती। अगर यहाँ नहीं करोगे तो फिर तुम खुद लड़का ढूँढ़ लेना।”

दरवाजे के पीछे खड़ी ललिता, उद्भ्रान्त और हैरान, यह सब वार्त्तालाप सुन रही थी। पन्द्रह वर्ष पार करते-करते ललिता गंदे के फूल की तरह खिल उठी थी। चंचल और हँसोड़, और मां-बाप के लाड़ में पली, हर बात में मनमानी करने वाली—मगर उसका दिल अब भी बन्द कली की तरह अपनी सब इच्छाएँ अपने में समेटे हुए था, जब माँ-बाप में झगड़ा होता तो वह भ्रान्त-सी उनकी बातों को

सुनता रहती, जंसे वह अपने दिल का हाल खुद न जानती हो। जब माँ हाथ जोड़कर कहती कि मैं इस ब्याह के हक में नहीं हूँ तो ललिता का दिल भर आता और वह मन ही मन कहती कि मैं कभी ब्याह नहीं करूँगी, और जब बाप माथा पीटकर कहता कि मेरी एड़ियाँ लड़का ढूँढ़ते-ढूँढ़ते घिस गई हैं, बुढ़ापे में हमें पूछने वाला न होगा, तो ललिता का गला तब भी भर आता और वह चाहती कि अभी ब्याह कर ले और हजारों रुपये लाकर पिता की गोदी में डाल दे। गरीब घर की भाज्ञाकारी बेटी, उसका सारा संसार इस घर की चहारदीवारी में सिमटा हुआ था, और माँ-बाप उस संसार के संचालक थे।

बाबूजी अपनी जगह पर ठीक थे। ठेकेदार की मुनीमी करते-करते उनकी कमर दोहरी हो चुकी थी। दुनिया देख चुके थे। पैसे का प्रताप जानते थे। इस अवसर को कैसे छोड़ देते? उधर माँ अपनी जगह पर ठीक थी। एक लड़की जो अमीरों के घर में गई तो न मालूम कभी मुँह भी देखने को मिलेगा या नहीं। जो रायसाहब के घर वालों ने भेल लिया तो ठीक, नहीं तो उस घर की जूती बन के रह जायगी। अमीरों के घरों में गरीबों की क्या बिसात? और फिर खूबसूरती पर रीझ कर ब्याह करने वाले का क्या विश्वास? न मालूम कैसा है, कौन है।

हफ्ता भर घर में भगड़ा चलता रहा, फिर सहसा एक रोज़ भगड़ा बन्द हो गया। बाबूजी घर से निकले तो रोज़ की तरह बड़बड़ाते हुए घूमने के लिए, मगर लौटे तो पेशानी साफ़ थी। सीधे जाकर रायसाहब की स्त्री को वचन दे आये थे। माँ पहले तो रोई, छटपटाई, फिर आंसू पोंछ कर बेटी का दहेज संजोने लगी, और देखते ही देखते हफ्ते भर में ललिता का ब्याह हो गया। रायसाहब के घर वाले आये और ललिता को फूलों और गहनों से लाद कर, मोटर

में बिठा कर अपने घर ले गये ।

रायसाहब की कोठी शहर में बड़ी-चढ़ी कोठियों में एक थी । बाबू रामप्रसाद के घर से भी उसकी सबसे ऊँची मंजिल की खिड़कियाँ और उसमें लगे रंग-बिरंगे शीशे नजर आते थे । रायसाहब अपने जीवन में यश और धन दोनों कमा गये थे, और उनके स्वर्गवास के बाद घर का संचालन उनके तीन बेटों और प्रौढ़ा स्त्री के हाथ में था । घर के बाहर तीन-तीन मोटरें खड़ी रहतीं, घर-जायदाद लक्ष्मी की दीप्ति में जगमग कर रही थी । रायसाहब के सबसे छोटे बेटे की नजर बीसियों रूप देख चुकने के बाद ललिता पर आ अटकी थी और अब बिना किसी उलझन के फूलों में लिपटी उसके घर आ पहुँची थी ।

ब्याह के तीसरे दिन बाद जब ललिता मायके आयी, तो उसका रूप सँभाले न सँभलता था । छमछम करते गहने, रेशमी कामदार सूट, मुँह पर पाउडर और सुर्खी, हँस-हँस कर ससुराल की वार्त्ता कहने लगी । छतों से लटकते बिल्लीरी लैम्पों से लेकर, अपनी जेठानियों के बीस-बीस जोड़े जूतों तक वह गिन गई । उनकी बातें करती जाती और हँसी से लोटपोट होती जाती ।

‘दोनों काली हैं माँ, काली और मोटी और यूँ मटक-मटक कर चलती हैं, कि तुम्हें क्या बताऊँ । दिन भर शीशे के सामने खड़ी रहती हैं । और सास ? सास सारा दिन पलंग पर बैठी, उर्दू की नावलें पढ़ती रहती हैं । रोज़ क्लब जाती हैं । और वह ? वह तो कहीं पर नहीं जाते, दिन भर मेरे पास बँठे रहते हैं । और माँ, बड़ी जेठानी तो सिगरेट भी पीती हैं, दोनों जेठानियाँ शाम को क्लब में जाती हैं ।’

‘तू भी क्लब जाती है ?’

‘हाय मैं तो कभी न जाऊँ । मैं तो उनको भी नहीं जाने दूंगी । तुम्हें मालूम है, क्लब में सब जुआ खेलते हैं, और शराब पीते हैं ?’

“वह भी पीते हैं ?”

“मुझे नहीं मालूम। शायद वह नहीं पीते। मगर उनके भाई पीते हैं।”

“वह पीते होते तो तू क्या करेगी ?”

“वाह, करूंगी क्यों नहीं। मैं भट छुड़वा दूंगी। मैं जैसा कहूँ, वह करते हैं।”

ललिता हँसती हुई चली गई। अबकी गई ललिता फिर लौट कर नहीं आई। तीन महीने बीत गये। मां-बाप यूँ तो निश्चिन्त थे, मगर बेटो को मिलने के लिये जी तड़पने लगा। दो-एक बार बाबूजी उसे लिखाने गये, मगर ससुराल वालों ने आने नहीं दिया। बाबूजी समझ गये कि समधियों का सम्बन्ध शादी तक था। उन्हें ललिता से मतलब था, न कि उसके माँ-बाप से। बात भी ठीक थी। भला ऊँचे घर की बहू-बेटियाँ गलियों में जाकर बैठती हैं ?

शाम का वक्त था। लैम्प जल चूके थे। मां चौके में अंगीठी के सामने बैठी आग ताप रही थी, जब दरवाजे पर नज़र उठा कर देखती है ललिता सामने खड़ी है। न बदन पर गहने, न रेशमी कपड़े, सुहाग की चूड़ियाँ तक नहीं, मुर्झाया हुआ चेहरा, हाथों में एक छोटी सी गठरी उठाये, वह एक स्वप्न की तरह सामने आ खड़ी हुई। मां भौचक उसके मुँह की ओर देखने लगी। और दूसरे क्षण ललिता मां की छाती से लिपट कर फफक-फफक कर रोने लगी।

“मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी मां, वहाँ से भाग आई हूँ।

मां का दिल धक्के से बैठ गया और उसकी आँखों के सामने अन्धेरा छाने लगा।

“ऐसा नहीं कहते बेटो, शुभ-शुभ बोल। क्या बात हुई है ?”

और ललिता ने सिसकियाँ लेते हुए अपनी कहानी कह सुनाई।

×

×

×

मालूम हुआ कि बेटो बस नहीं पाई। लड़का शराबी और वेश्यागामी निकला। शादी के महीना भर बाद ही ललिता से ऊब उठा और

आवारा औरतों के साथ फिर से घूमने लगा। इधर लड़के की आँख फिरी नहीं कि घरवालों ने भी जूते चलाने शुरू कर दिये। ललिता को रोज गालियाँ पड़ने लगीं। जेठानियाँ उसे कंगाल की बेटी कहतीं, सास कलमुंही और कुजात कहती, इसके सामने बेटे को दूसरी बहू लाने को कहती। घर के नौकरों तक ने पूछना छोड़ दिया। ललिता सब कुछ सहती रही मगर आज जब उस पर चोरी का इलजाम लगाया गया तो वह सह न सकी। बड़ी जेठानी के गले का हार खो गया था, उसने ललिता को आ पकड़ा। ललिता लड़ पड़ी। जो मुँह में आया ललिता ने कहा, और फिर एक-एक गहना फेंक, उस घर के रेशमी कपड़े उतार, यहाँ तक की सुहाग की चूड़ी तक फेंक तोड़कर वहाँ से भाग आई।

“मैं उस घर में कभी नहीं रहूँगी, मां, कभी नहीं रहूँगी। मैं अपने घर में रहूँगी, तुम्हारे पास।”

और ललिता, मां की छाती के साथ सट कर, बच्चों की तरह, खोई हुई सान्त्वना पाने लगी।

“तुम ठीक कहती थी मां। बाबूजी ने क्यों मुझे उस घर में ब्याह दिया। मैं अब वहाँ कभी नहीं जाऊँगी।”

मां की छाती से लिपटी ललिता की साँस अभी अपनी गति पर आई भी न थी कि मां ने कहा :

“हत् पगली, शुभ-शुभ बोल। यूँ भी कहीं हुआ है? मालिक के घर से निकल कर भी कोई औरत कभी सुखी हुई है? यूँ घबरा जायेगी तो आगे क्या होगा?”

ललिता उस परिन्दे की तरह छटपटाती हुई घर आई थी जिसे पहली उड़ान में ही किसी ने ज़रमी कर डाला हो, और वह उड़ता गिरता, अपने नीड़ में आश्रय खोजता हुआ, लौट आया हो। मगर मां का वाक्य सुनकर वह हैरान सी हो गई, और मां का मुँह देखने लगी।

‘अब तो बुरा है तो भी, और अच्छा है तो भी, वही तेरा घर है। जो औरत अपने मालिक के साथ नहीं रहती वह दो कौड़ी की हो जाती है। हमारी बिसात क्या है ? तुझे ढांप कर उन्होंने रखा हुआ है, क्या यह थोड़ी बात है ? फिजूल की तड़पन मन में न ला, आप भी न रो और हमें भी न रुला।’

ललिता का सारा शरीर जैसे पथरा गया। वही मां जो ललिता को उस घर में ब्याहना भी न चाहती थी, और जिसके आश्रय पर ललिता भागती हुई अपने घर लौट आई थी, वही मां इतनी जल्दी बदल सकती है, ललिता को विश्वास न होता था।

ललिता को व्याकुल देखकर मां ने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा ‘सब्र कर। सन्तोष से ही रहेगी तो एक दिन वहाँ राज करेगी। तू तो इतनी समझदार है। लड़कियों को अभिमान नहीं सुहाता—लड़कियों को सब्र-सन्तोष ही सुहाता है। तुझे उस घर में उमर काटनी है, बेटी, एक दिन की तो बात नहीं है।’

मां कहती गई और बेटी यूँ जानने लगी जैसे उसे कोई बहते दरियाँ में धकेल रहा हो और उसे कह रहा हो, कि अब किनारे पर तू नहीं आ सकती। जो बचना हो तो लहरों के सहारे अपने आपको छोड़ दे।

मां फिर बेटी की पीठ थपथपाती हुई बोली :

‘अपने मालिक की सेवा कर। सेवा से तो भगवान भी वश में आ जाते हैं। उसके लिए थाली खुद परोसा कर। जब लौटकर आये तो उसका हाथ मुँह खुद धुलाया कर। नौकरों पर नहीं छोड़ा करते।’

फिर बेटी के कान के पास मुँह ले जाकर मां बोली :

‘कोई बाल-बच्चा तेरे हो जाय तो तेरा मन लग जायगा। कोशिश कर जो तेरी गोद जल्दी भर जाय।’

ललिता का सारा शरीर भय से सिहर उठा। उसने फिर बड़ी याचना भरी आवाज में माँ को कहा :

‘यह क्या कहती हो मां, अब यहाँ से नहीं जाऊँगी। मैं अपने घर में रहूँगी। वहाँ मुझे चोर कहते हैं, मेरा अपमान करते हैं।’

‘हत् पगली, बच्चों की सी बातें नहीं करते। लड़कियाँ भी कभी अभिमान करती हैं? उधर से मन हटा लिया तो मिट्टी की होके रह जायगी, कोई पूछेगा भी नहीं।’

बाहर अंधेरा बढ़ रहा था, मां का मन और भी चिन्तित और शंकित हो उठा।

‘तू भाग कर क्यों आई है? घर में किसी को बताकर नहीं आई?’

‘नहीं मां, उस वक्त घर में कोई नहीं था। मैं भागकर निकल आई।’

‘यह तूने बहुत बुरा किया। अंधेरा बढ़ रहा है, तू सीधी घर पर लौट जा। अगर वह नहीं चाहते कि तू बाहर आया करे तो तू मत आया कर। इसी में तेरी भलाई है।’

ललिता पहले तो इकटक मां के चेहरे को देखती रही, फिर धीरे से अपनी गठरी उठाकर घर के बाहर निकल आई। मां आधे रास्ते तक उसके साथ आई। उसके बाद छलकती आँखों से, भाग्य के इस झुटपुटे में अपना रास्ता टटोलती हुई ललिता समुराल वापस जाने लगी। जब वह समुराल से भाग कर आई थी तो यह निश्चय करके कि अब लौटकर नहीं आऊँगी, पर अब लौटते हुए कोई उसके मन पर जलती शिखा से यह अंकित कर देना चाहता था कि जिसकी समुराल नहीं है उसके मायके भी नहीं होते, जो समुराल में नहीं रह सकेगी उसके लिए मायके के भी द्वार बन्द हो जाएँगे।

उसके चले जाने के बाद कुछ रोज़ तो मां-बाप ने बड़ी घबड़ाहट में गुजारे, कि कहीं रायसाहब के घर से ललिता को निकाल ही न दिया जाये, मगर जब तीन-चार रोज़ बीत गये और ललिता लौटकर न आई तो मां-बाप ने आश्वासन की सांस ली। ललिता ने काँ तो भूल थी, मगर

शायद वक्त पर घर पहुँच गई, किसी को मालूम नहीं पड़ा। छोटी-सी बच्ची, जल्दी घबरा गई, मगर कभी घबराने से यूँ काम चलता है ? वहाँ से आ जाती तो किसके टुकड़ों पर रहती ? एक दिन की बात नहीं, लम्बा जीवन काटना है। माँ-बाप कितने दिन के मेहमान हैं, और जब छोटे भाई का ब्याह हो गया तो वह अपने बाल-बच्चों को संभालेगा या ललिता को ? उधर बैठी है, खाने पहनने को तो मिलता है, बस यही बहुत है, बाकी बातों पर तो भाग्य का बस है, किसी का क्या बस चलेगा।

दिन कटने लगे। ललिता के लिए कोठी के सब दरवाजे फिर बन्द हो गये। माँ कहने को तो कह गयी, और लड़की को वापिस ससुराल में भी भेज दिया, मगर उसका दिल अन्दर ही अन्दर छटपटाने लगा। कोई दुःख होता है जो क्रोध और कलह को जन्म देता है, और उसकी आग में भस्म भी हो जाता है, पर कोई दुःख ऐसा भी होता है जो मूक अवसाद का रूप लेकर, अन्दर ही अन्दर जीवन को खोखला करने लगता है, जीवन की सब आशाओं को चाहने लगता है। इसी अवसाद की गहरी छाया में माँ-बाप के दिन कटने लगे। बाबू जी की कमर फिर दोहरी होने लगी, और माँ के रहे-सहे बाल भी सफेद हो गये ; और चेहरा पिचक गया। माँ रात को छत ताकती हुई कहती, जो अब बेटी घर आ जाए तो उसे छाती से लगाकर रखूँगी, उस जलते कुण्ड में से उसे निकाल लूँगी, जीते जी उसे आँच न आने दूँगी। पर जब दिन की रोशनी में दुनिया के कठोर सत्य स्पष्ट नजर आने लगते तो मन मार के कहती : जहाँ बैठी है, वहीं ठीक है, उन्होंने घर में जगह तो दी है, निकाल तो नहीं दिया।

मगर दिलासों से दिल के घाव कब भरते हैं ? माँ-बाप बेचैन हो उठते। कोठी की ऊँची-ऊँची दीवारों के पीछे बेटी के दिन कैसे कटते होंगे, उसे कोई पूछता भी है या नहीं कि सब की दुत्कार ही

सहती है, खाने-पहनने को भी मिलता है या नहीं। मासूम बेटी आसरा लेने आई और माँ ने धकेल के बाहर निकाल दिया। और अब तो उसकी सूरत भी देखने को न मिलती थी। बाबू जी लुक-छिपकर छः छः चक्कर उस कोठी के लगते कि कहीं किसी खिड़की में या दरवाजे में ललिता की झलक मिल जाय। अन्दर जाते हुए उन्हें डर लगता था। कहीं कोई मोटर गुजरती हुई देखते तो आँखें फाड़-फाड़ कर उसके अन्दर भाँकते।

और इसी यातना में तीन वर्ष बीत गये।

शाम का वक्त था। सर्दी का धुन्धलका चारों ओर छाया हुआ था। बाबूजी अभी बाहर से नहीं लौटे थे। छोटा लड़का साथ वाले घर में पढ़ने गया हुआ था, और मां चूल्हे के पास, दीवार से सिर टिकाये चुपचाप बैठी थी जब दरवाजे पर दस्तक हुई। मां ने उठकर दरवाजा खोला तो सामने ललिता खड़ी थी। मां को जैसे बिजली छू गई। लपक कर उसे छाती से लगा लिया।

‘ललिता तुम ?’

ललिता हँसती हुई अन्दर आ गई। वही अल्हड़ चंचल हँसी जिससे इस घर की दीवारें परिचित थीं। ललिता की देह पहले से तनिक स्थूल हो गई थी, आँखों के नीचे हल्की-हल्की छाड़ियाँ थीं, पर ललिता स्वस्थ थी, पहले सी सुन्दर थी, और बदन पर रेशमी कपड़े और छम-छम करते गहने पहन कर आई थी।

‘ललिता, तुम कैसे चली आई ?’

‘बस आ गई, अब कभी-कभी आजाया करूँगी बाबूजी कहाँ हैं ?’

‘अभी आते होंगे। तीन बरस के बाद आज तेरी सूरत देखी है बेटो !’

मां बेटो को देखकर विह्वल हो उठी। बार बार उस की पीठ

सहलाती, छाती से लगाती, चिबुक पकड़कर बार-बार उसका मुँह देखती ।

‘अब कभी-कभी आ जाया करूँगी । अब मैंने एक तरकीब ढूँढ़ निकाली है ।’

‘क्या तरकीब निकाली है ललिता, मेरी बेटी, वह तरकीब पहले क्यों नहीं निकाली ?’

‘घर में एक पुराना नौकर है, अब मैंने उसे हाथ में कर लिया है । उसे दो चार रुपये कभी कभी दे देती हूँ । मेरा काम कर देता है । आज भी उसे पाँच रुपये देकर आई हूँ । सब लोग बाहर गये हुए हैं, मैं चुपके से चली आई ।’

‘यह तरकीब पहले क्यों न ढूँढ़ निकाली ?’

‘पहले मेरे पास पैसे ही कब थें ।’

‘अब पैसे कहाँ से आ गये ललिता ?’

‘वाह अब मैंने इसकी भी तरकीब ढूँढ़ निकाली है । जब वह रात को लौटते हैं तो शराब के नशे में होते हैं । जब वह सो जाते हैं तो चुपके से उनके बटुए में से दस-पाँच निकाल लेती हूँ, उन्हें कुछ भी पता नहीं चलता । पहली बार मैंने पाँच का नोट निकाला तो ऐसा डरी ऐसा डरी कि तुम्हें क्या बताऊँ । मगर दूसरे दिन चुपचाप कपड़े पहन कर काम पर चले गये । उन्हें कुछ भी मालूम नहीं पड़ा ।’

‘और जो नौकर ने किसी दिन बतला दिया तो ?’

‘वह कैसे बतलाएगा ? बतला दे, मैं कहूँगी मैंने नहीं दिये । मेरे पास हैं ही कहाँ जो ढूँँगी ।’

ललिता की बात में फिर से पहली-सी चंचलता आ गई थी । मगर माँ इक टक उसके चेहरे को देखे जा रही थी । उसका दिल व्याकुलता और ममता दोनों में बार-बार छटपटा रहा था । ललिता ने माँ की कोन्दी पकड़ कर बड़े आग्रह से कहा :

‘मेरा एक काम करोगी माँ, मैं जल्दी में हूँ ।’

‘क्या है बेटी, मैं क्यों नहीं करूँगी ?’

‘पहले कहो कि कर दोगी, छोटा-सा काम है, बिल्कुल छोटा-सा ।’

‘कहो न ललिता, मुझे तड़पाती क्यों हो ? अभी तक मैं तेरे किसी काम नहीं आई, तू समझती है अब भी तेरा काम नहीं करूँगी ?’

और ललिता अपने हाथ में पकड़ा एक छोटा-सा रेशमी रूमाल खोलने लगी । रूमाल खोलकर ललिता ने उसमें से एक छोटा-सा चमकता हुआ सोने का गोल पैसा जितना टुकड़ा निकालकर माँ के आगे बढ़ाया :

‘इसे अपने पास रख लो । यह मेरे हार का पैण्डेंट है । जब कभी वह मुझे क्लब ले जाते हैं तो मेरी सास मुझे जेवर पहनने को देती हूँ, लौटकर आती हूँ तो वापिस ले लेती है । कल रात आई तो नशे में थे, मैंने झट से पैण्डेंट उतार लिया और गहने वापिस कर दिये । यह तुम लो माँ । मैं धीरे-धीरे कई चीजें लाकर तुम्हें दूँगी । उनकी जेब से तो दो-चार रुपये रोज ही निकाल लेती हूँ । इन्हीं पैसों से तो यह सूट बनाया है । है न अच्छा ? सच्ची, विलायती क्रेप है ।’

माँ चुप हो गई । यह वही ललिता थी जिसे कभी कह दो कि तुमने झूठ बोला है तो दो-दो दिन खाना न खाती थी ।

‘अगर उन्हें मालूम हो गया ललिता कि तुमने चोरी की है तो ?’

‘मैं ऐसी कच्ची नहीं हूँ माँ, ले ले मेरी तलाशी, मेरे पास होगा तो लेंगे, नहीं लेंगे कहाँ से ?’

माँ ने चुपचाप पैण्डेंट ले लिया ।

‘हाय, शुक्र,’ ललिता बोली, ‘मुझे डर था जो तुमने ना कर दी तो मैं कहाँ जाऊँगी, पर तुम तो मेरी सच्ची माँ हो, तुम क्यों इन्कार करोगी ।’

फिर माँ के कान के पास मुँह ले जाकर बोली :

‘वहाँ सब अपना-अपना सोना सँभाल रही हैं, भाइयों में रोज़ लड़ाई होती है । माँ, मेरी सास ऐसी डायन है छोटी जेठानी का उसने गर्भ गिरवा दिया, ताकि उसके बेटा नहीं हो । बड़े बेटे का साथ

देती है ।’

मां सिहर उठी । जो आज जेठानी के साथ हुआ है तो कल ललिता के भी साथ हो सकता है । मां व्याकुल हो उठी और बड़ी अधीर होकर बोली :

‘ललिता, तू उस नरक में से निकल आ । मेरे पास आ जा । और नहीं तो नौकरी कर लेना, भाई के साथ रहती रहना । जैसे होगा रूखी-सूखी खा के गुजारा कर लेंगे ।’

ललिता क्षण भर के लिए चुप हुई, फिर कमरे, जीर्ण-शीर्ण दीवारों को देखती हुई, जिसमें चूल्हे के धुँएँ से दम घुट रहा था, और छत में चिड़ियों ने घोंसले बना रखे थे, देखती हुई उसी चंचलता में बोली :

‘यहाँ मैं आकर क्या करूँगी । यहाँ है क्या माँ ?’

माँ के दिल पर जैसे किसी ने हथौड़े की चोट की हो । स्तब्ध और मूक, वह बेटी के मुँह को देखने लगी । ललिता अब भी अपने भविष्य के ताने बुने जा रही थी :

‘इसे तुम रख लो । मैं तुम्हें और भी लाकर दूँगी । बाजार में इतनी अच्छी जार्जेट आई है । मैं इन्हीं पैसों से लूँगी । कभी-कभी उनका मन आ जाय तो वह मुझे बाहर ले जाते हैं, एक बार सोने की घड़ी ले दी थी । मगर वह दूसरे ही दिन फिर हमसे छीनकर ले गये और क्लब में किसी लड़की को दे आये । अबकी बार ले दें तो मैं तुम्हें दे जाऊँगी, कहूँगी खो गई है, किसी नौकर ने उठा ली होगी, मैं क्या जानूँ ?’

और ललिता हँसने लगी :

क्लब में जब कोई पार्टी हो तो क्लब वाले बीवियों को भी साथ बलाते हैं । तब तो इन्हें साथ ले जाना ही पड़ता है । अबकी बार बम्बई से जो ऐक्टर आएँगे उनकी पार्टी होगी । माँ, तुमने ऐक्टर देखे हैं ?’

‘नहीं ललिता, मैंने ऐक्टर नहीं देखे ।’ भराई हुई आवाज में माँ ने जवाब दिया ।

‘मगर इनका क्या माळूम ? जो मन में आवे तो ले जायें और जो न आवे तैयार बैठी को छोड़ जायें । मैं कहूँगी, मैंने ऐक्टर जरूर देखने हैं एक बार ले जाओ, फिर जाने को नहीं कहूँगी ।’

फिर सहसा ललिता उठ खड़ी हुई :

‘अब जाऊँगी माँ, देर हो रही है ।’

‘तुम इसे सँभाल कर रखना ।’

और जिस तरह भागती हुई आई थी, उसी तरह भागती हँसती हुई लौट गई ।

और ललिता की माँ क्षोभ और सन्ताप दोनों में फिर डगमगाने लगी । ललिता कैसी समुराल में हिलमिल गई है मगर मेरी पहली ललिता तो इसमें ढूँढ़े भी नहीं मिलती ।



अकाल मृत्यु

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

सायंकाल की बढ़ती छाया और मनुष्य के बीते दिनों में एक अनूठा सम्बन्ध है। ज्यों ही रात के साये अपना अधियारा आंचल फैलाये सृष्टि पर उतरने लगते हैं, अतीत की स्मृतियां जाग उठती हैं। बुझी हुई आशाएँ, भूले हुए दिन, विस्मृत सौंदर्य और संगीत—एक-एक कर के सभी हाथ पसारे अपनी अकाल मृत्यु को न मानते हुए मन की अतल गहराइयों में से उठने लगते हैं, और मनुष्य का मन एक गहरे विषाद और अनुराग में डूबने उतराने लगता है। शायद इसीलिए समझदार, क्रियाशील लोग शाम के वक्त घरों में नहीं बैठते, बाहर निकल जाते हैं ताकि अतीत के इस विकट साक्षात् से बचे रहें।

पर धनराज की शाम सदा घर पर ही बीता करती। अतीत की गहराइयों में खोये रहने में उन्हें एक विशेष सुख मिलता। अंधेरा होते ही वह अपने कमरे में आ बैठते और गहरी रात गये तक वहीं बैठे रहते। उनके लिए सब से अधिक हृदय-विदारक और हृदयग्राही स्मृति उनकी स्वर्गगता पत्नी थी जो पंद्रह वर्ष पहले हँसते-खेलते एक दिन अदृश्य में विलीन हो गई थी। उसकी याद उन्हें भुलाये न भूलती थी। कमरे की अँगोठी पर अब भी उसका चित्र रखा था। उस नारी की सौम्य, सुन्दर, शांत मुद्रा के इर्द-गिर्द अतीत का एक संसार बसा हुआ था। इस चित्र के सामने धनराज कितनी-कितनी देर तक सिर झुकाये खड़े रहते, उनकी आँखें सजल हो उठतीं और दिल रो-रो उठता था। बार बार कहते : “जो तू आज जिंदा होती, अनुराधा, तो मैं जीवन में परास्त न हो जाता, मैं यों भटकता न फिरता। अब मेरी जीवनयात्रा कितनी कठोर और बीहड़ हो रही है।”

यों धनराज अकेले न थे । वकालत थी । समाज के बहिर्मुखी धंधे थे, परिवार था; पर उस जीवनदायिनी प्रेरणा के बिना सब जड़ था, रसहीन, प्रयोजनहीन । उनके जीवन का जो असली ध्येय था, वह उसे भूल चुके थे, उसे पूरा करने को जैसे उनमें शक्ति नहीं रही थी ।

जब इन बीते दिनों की याद असह्य हो उठी, तो धनराज ने दूसरा विवाह कर लिया । पर तो भी वह अनुराधा को न भूल पाये । ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, अनुराधा की याद उतनी ही तीव्र होने लगी । आखिर धनराज ने मदिरा का आश्रय लिया । अपने कमरे के बन्द दरवाजों के पीछे वह शराब के प्यालों में अपने आंसू डुबोने लगे । पर शराब भी तो अतीत की सेविका है, स्मृतियाँ भूलने की बजाय और सजीव हो उठतीं । उस पर सिगरेट के हलके-हलके धुँधलके में वर्तमान की स्पष्टता और भी धुँधली पड़ जाती, और धनराज घंटों अतीत के दृश्यों में घूमते रहते ।

फिर एक दिन एक आकस्मिक घटना घटी, जिसकी धनराज को कभी आशा न हो सकती थी । एक शाम वह अपने कमरे में बैठे गहरे विषाद में डूबे हुए थे कि किसी ने हलके से दरवाजा खटखटाया । धनराज ने ध्यान से सुना । थोड़ी देर बाद दरवाजे पर फिर हल्की-सी दस्तक हुई । धनराज उठ कर दरवाजे की ओर जाने ही वाले थे कि धीरे से दरवाजा खुला और उनकी विस्मित आंखों के सामने अनुराधा अन्दर आ खड़ी हुई । कमरे में अन्धेरा बढ़ रहा था, पर अब भी इतनी रोशनी थी कि अनुराधा का चेहरा पहचाना जा सके । धनराज स्तब्ध और हैरान उसके चेहरे की ओर कितने ही क्षण देखते रह गये, और फिर अपने रुंधे गले का उन्माद दबाते हुए दोनों बांहें फैलाये उठ खड़े हुए ।

“अनुराधा ! तुम ?”

अनुराधा मुसकराती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ आई । अनुराधा ही तो थी ! वही स्थिर मंथर गति, आंखों में वही अकथनीय ज्योति, वही

विश्वास, वही प्रेम की अनंत सूचना, होठों पर वही सदा खेलती हुई मुस्कान !

“अनुराधा, क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ?”

अनुराधा पास आ गई। मुसकराती हुई बोली :

“क्या तुम्हें अब भी विश्वास नहीं आया ? क्या तुम अभी तक मुझे पहचान नहीं पाये ?”

धनराज का हृदय धकधक करने लगा, जैसे विस्मय और उल्लास से टूटा जाता हो। उन्होंने अनुराधा का हाथ अपने दोनों हाथों में ले लिया—वही श्वेत तरुण हाथ जिसमें किसी समय उनके प्राण सिमट आते थे। अनुराधा के हाथ में अब भी वही हीरे की अंगूठी थी, जो उन्होंने अपने विवाह की पहली वर्षगांठ पर अनुराधा को उपहार रूप में दी थी। अनुराधा को उनका रोम-रोम पहचानने लगा। पुनर्मिलन की उत्तेजना में धनराज का गला बार-बार रुँध जाता। वाक्य मुँह को आते पर कांपते होठों पर टूट के रह जाते। मूक और आकुल वह बार-बार अनुराधा का हाथ अपने होठों और आँखों को लगाने लगे।

“तुम सचमुच समझे बैठे थे कि मैं मर गई ? पर इसमें तुम्हारा क्या दोष ? तुम तो अपनी तरफ से मुझे जला आये थे। पर मैं मरी नहीं—मैं जीवित हूँ, मैं आज तक जीवित हूँ।”

“अनुराधा, तुम क्या कह रही हो ? मैं स्वयं तुम्हारी मृत देह को आग के अर्पण कर आया था।”

अनुराधा के होठों की मुस्कान क्षीण होते-होते लुप्त हो गई, और उसकी आवाज गहरी और गभीर हो उठी :

“तुम से भूल हुई। वह मैं न थी जिसे तुम जला आये थे। वह तो मेरी साथिन थी, जो मेरे साथ नाव में सैर को गई थी।”

“तुम क्या कहती हो, अनुराधा ?”

“मैं ठीक कहती हूँ। वह अचला थी—मेरी साथिन। उसने भी

सफेद कपड़े पहन रखे थे। जब नांव डूबी तो मेरे प्राण बच गये, मगर वह डूब गई। तुम उसका चेहरा कैसे पहचान सकते थे। उसकी सारी देह नीली और सूजी हुई होगी।”

घनराज अवाक् उसके चेहरे को देखने लगे। क्या सचमुच उनसे भूल हुई थी ?

“मैं ठीक कह रही हूँ। शाम के वक्त मैं और मेरी सहेली नाव में घूमने के लिए निकले थे। मैंने तुम्हें बार-बार कहा कि तुम भी साथ चलो, मगर तुम नहीं आये। नाव में अन्धेरा हो गया, और भील में लहरें उठने लगीं। नाव वाले ने बहुत समझाया कि लौट चलो। मगर अचला नहीं मानी। बार-बार यही कहती कि भील में खड़े द्वीप तक जरूर जायेंगे। माझी एक बार नाव मोड़ने लगा तो वह भट से नाव में भागती हुई माझी को रोकने के लिए दौड़ी। लहरों के थपेड़ों में नाव उलट गई, और हम सब पानी में गोते खाने लगे।”

“फिर ? फिर, अनुराधा ? फिर क्या हुआ ?”

“फिर मुझे कुछ मालूम नहीं। मैंने अपनी सहेली की चीखें सुनी थीं। अंधेरा बहुत था और आकाश में डोलते डूबते तारों के सिवा मुझे कुछ नजर न आता था। फिर न मालूम कब वह भी आँखों से ओझल हो गये। जब मैंने आँख खोली तो मैं एक पेड़ के नीचे पड़ी थी, और एक कुरूप-सा आदमी मेरे ऊपर झका हुआ था। यह कुरूप-सा आदमी पहले भी मैंने नाव में बैठे देखा था—नाव के एक सिरे पर चुपचाप अपना काला मुँह छिपाये पानी की ओर देखता हुआ बैठा था। न मालूम वह कौन था। उसी ने मुझे बताया कि मेरी साथिन डूब गई है, और उसका दाहकर्म भी हो चुका है। और कहने लगा कि मैंने तेरी जान बचाई है, अब मैं तुम्हें कहीं न जाने दूंगा। मैं बहुत रोई चिल्लाई, मगर उसने एक न सुनी। मैं उससे डरने लगी। आखिर आचार हो गई। न मालूम इसके बाद किन-किन देशदेशांतरों में मैं

खूमती, भटकती, चक्कर काटती फिरी हूँ।”

“वह आदमी कहाँ है, अनुराधा ?”

“एक रोज वह मुझे छोड़ कर कहीं चला गया। मुझे नहीं मालूम वह कहाँ गया है, मगर वह अब नहीं आयेगा। मैं बहुत थक गई हूँ।” और अनुराधा ने अपना सिर धनराज के कंधे पर रख दिया। बड़ी देर तक दोनों चुपचाप, हाथ में हाथ रखे, एक दूसरे की पार्श्वता से जीवनत्राण पाते रहे। कमरे का प्रकाश धीरे-धीरे और भी क्षीण हो रहा था।

“तुम मेरे बिना बहुत व्याकुल थे—मैं जानती हूँ। मैंने तुम्हें बहुत दुखी रखा,” अनुराधा ने धीरे से कहा।

“हाँ, अनुराधा, तुम्हारे बिना जीवन की एक घड़ी भी न कट पाती थी। मगर यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?”

“क्या मैं तुम्हारे दुःख को नहीं जानती ? मैं कई दिनों से हर शाम तुम्हारी खिड़की के बाहर आ खड़ी होती हूँ। मैं जानती हूँ तुम कितने व्याकुल रहते हो।”

धनराज का गला भर आया। उनकी आँखों में आंसू उमड़ आये। उन्होंने अनुराधा के दोनों हाथों को कलेजे से लगाते हुए कहा :

“अनुराधा, तुम ने आज मेरी सुधि ली ? इतने बरसों के बाद आज तुम्हें मेरी याद आई ?”

अनुराधा की आँखें ममता और प्रेम से सजल हो उठीं।

“मैं जानती हूँ तुम कितने अकेले और बेचैन रहते हो। मैं तुम्हें एक दिन के लिए भी अपने से अलग न होने दूँगी। मैं अब आ गई हूँ। हम फिर से यौवन का टूटा बंधन जोड़ लेंगे, और इसी मिलन क्षण से फिर से अपना जीवन शुरू करेंगे।”

“हाँ, अनुराधा, हाँ !”

धनराज उन्मत्त बालक की भाँति अनुराधा का एक-एक शब्द सुन

रहे थे । अनुराधा का प्रेम भरा हाथ उनके हाथ को धामे हुए था । अनुराधा कहे जा रही थी :

“इसी कमरे को मैं फिर से सजा दूँगी । यही मेरा घर है । यहीं पर हम अलग हुए थे, यहीं पर अब हम फिर मिले हैं । मैं इसे फिर से तुम्हारे रहने योग्य बना दूँगी । मैं यहाँ नये परदे लटकाऊँगी । इस खिड़की के बाहर मैं फिर से फूल लाकर रखूँगी । पहले फूल तो सूख कर ढेर हो गये होंगे ?”

“हां, अनुराधा,” धनराज ने क्षीण आवाज में कहा ।

“मैं सोचती थी कौन तुम्हारे कपड़ों में बटन लगाता होगा । कौन तुम्हारे पीछे भाग-भाग कर तुम्हारी चीजें तुम्हारी जेबों में ठूसता होगा । कौन तुम्हारे कपड़े समेट-समेट कर रखता होगा । तुम तो निरे बालक थे ।”

धनराज को रोमांच हो आया । उद्विग्न, कंपित स्वर में बोले :

“मैं अब भी जीवन में कुछ कर दिखाऊँगा, अनुराधा । तुम्हारे आ जाने से मेरी सूखी हुई भावनाएँ फिर से सरस हो उठेंगी । तुम नहीं जानतीं मैं कितना भटक गया हूँ ।”

“हां, मैं जानती हूँ । इसी दुःख से खिंची हुई मैं तुम्हारे पास चली आई हूँ । अब मैं तुम्हें कभी दुखी न होने दूँगी । तुम्हें याद है जब हम दोनों एक साथ काप करने जाया करते थे : एक थैला तुम कंधे पर लटकाये हुए, एक मैं लटकाये हुए । तुम्हारे थैले में कागज और किताबें और मेरे थैले में खाने का सामान ?”

“हां, अनुराधा । क्या मैं वे दिन भूल सकता हूँ ?”

“तुम्हारी बातें सुन कर उन लोगों की आँखें कैसे चमक उठती थीं, उनमें कैसा विश्वास और भविष्य की आशाएँ छलक आती थीं । हम कितने सुखी थे । घर से निकलते थे तो भी हंसते हुए और थक कर लौटते थे तो भी हंसते हुए—उन्हीं की बातें करते हुए ।”

“अनुराधा, जब से तुम गई हो, मैं शून्य में जी रहा हूँ। मैं कभी उन लोगों की ओर तक नहीं गया। तुम नहीं जानतीं मैं कितना अकेला हो गया था।”

“हम फिर से उनके प्रेम में अपना प्रेम पायेंगे। भला अकेले में भी कभी कोई सुखी रह सकता है !”

धनराज सजल नेत्रों से अनुराधा के चेहरे को देखते रहे। अनुराधा सहसा कहने लगी :

“हम फिर से पहले की तरह रहेंगे। साथ वाले कमरे को सोने का कमरा बनायेंगे। उस कमरे में अब भी दो पलंग हैं न ?”

इस पर धनराज संकुचित होकर चुप हो रहे। उनके माथे पर हलके हलके पसीने के कण इकट्ठे हो आये। फिर धीमी सी आवाज में बोले :

“वह कमरा खाली नहीं है, अनुराधा।”

“खाली नहीं ? क्यों ? क्या वहाँ कोई रहता है ?”

“वह कमरा शकुंतला के पास है।”

“शकुंतला कौन है ?”

“अनुराधा, मैंने तुम्हारे चले जाने के बाद दूसरा ब्याह कर लिया था। शकुंतला मेरी पत्नी है ?”

“ब्याह कर लिया था ?” बड़ी देर तक अनुराधा की आँखें धनराज के चेहरे को देखती रहीं। धनराज को ऐसे लगा जैसे उन आँखों का स्थिर हिमस्पर्श उनकी आत्मा को निरुद्ध कर देगा, उनके सारे शरीर को निर्जीव और गतिहीन कर देगा।

“तुम्हारे चले जाने के बाद जीवन सुनसान हो उठा था, अनुराधा। इस शून्य में रहता तो पागल हो जाता। तुम्हारी याद को कायम रखने के लिए मैंने दूसरा विवाह कर लिया।”

देखते ही देखते अनुराधा के चेहरे पर फिर वही स्निग्ध मुसकान

खेलने लगी। उसकी आँखें सजल हो उठीं, और उसका चेहरा फिर पहले की तरह उदीप्त हो उठा।

“तुम ने ठीक ही तो किया। मैं तो तुम्हारे लिए मर चुकी थी। तुम ने तो अपनी गृहस्थी बसानी थी। शकुंतला कैसी है? क्या तुम उसके साथ सुखी हो?”

“मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ, अनुराधा?”

“क्यों? क्या वह अच्छी नहीं है?”

“अच्छी है, अनुराधा। पर मैं उसे प्रेम तो नहीं करता। मेरी आत्मा में वह तुम्हारा स्थान तो नहीं ले सकती। मेरा सब प्यार तो तुम ले गई थी। मेरे हृदय में प्यार था ही कहाँ जो मैं किसी दूसरे को दे पाता?”

अनुराधा चपचाप सुनती रही, फिर बोली, “क्या वह तुम्हें प्रेम करती है?”

“मैं नहीं जानता, अनुराधा। उसने कभी कोई शिकायत नहीं की।”

“तो क्या तुम इकट्ठे नहीं रहते हो?”

“नहीं अनुराधा। मे कई-कई रोज तक उससे मिलता तक नहीं हूँ। हमारे कमरों के बीच का दरवाजा अक्सर बन्द रहता है।”

अनुराधा बड़ी देर तक स्थिर दृष्टि से धनराज के चेहरे की ओर देखती रही, जैसे उनकी आत्मा की गहराइयों को छूना चाहती हो।

धनराज बोले, “अब तुम लौट आई हो, अनुराधा। तुम्हारे लौट आने पर मेरा रोम-रोम पुलकित है। तुम्हारे बिना मैं जीते हुए भी मरा हुआ था, संज्ञाहीन था। तुम मेरा विश्वास हो, अनुराधा, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो।”

“यह तुम क्या कह रहे हो? मैं तुम्हारे जीवन की प्रेरणा कभी भी नहीं थी। न अब, न पहले।”

धनराज अवाक उसके मुँह की ओर देखने लगे। अनुराधा का

चेहरा जो हतप्रभ-सा था, फिर स्निग्ध अलौकिक मुसकान में खिलने लगा और आँखें किसी याद के ताज़ा हो आने पर चमकने लगीं ।

“तुम्हें याद है जब हम उस पहाड़ी पर उस देश-सेवक की समाधि देखने गये थे ? वह, जिसे फाँसी लगा दिया गया था ?”

धनराज को बरसों के बाद वह पुण्य-यात्रा याद हो आई । उस दिन का एक-एक क्षण उनकी आँखों के सामने घूम गया । किस भाँति वह समाधि तक पहुँचते पहुँचते थक कर चूर हो गये थे, किस तरह दिन भर उन्हें पानी की एक बूँद पीने को न मिली थी । किस तरह अनुराधा का चेहरा थकावट और प्यास से अलसा गया था । कई बार उन्होंने सोचा था कि लौट चले । समाधि तक पहुँचना उनके लिए सम्भव न था । मगर उस वीर के बलिदान का सोच कर समाधि की तरफ पीठ न मोड़ी जा सकती थी ।

“तुम्हें याद है जब हम समाधि पर पहुँचे तो तुमने क्या कहा था ?”

“क्या कहा था, अनुराधा ?”

“समाधि की धूल तुमने हाथ में लेते हुए कहा था : ‘तुम मर कर भी जीते हो । जिस काम पर तुमने अपने प्राण निछावर किये, वह काम और भी तीव्र गति से आगे बढ़ेगा । तेरी मौत हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी, हमारे कदमों को मजबूत बनाएगी ।’

“फिर तुमने मेरा हाथ पकड़ कर, मेरी हथेली पर समाधि की चुटकी भर दारू रखते हुए कहा था : “भला मौत भी किसी को मार सकती है ? मौत तो उसकी प्रेरणा को जीवन दान देती है । असंख्य दिलों को रोशन कर देती है । उसकी राह पर चलने वालों का मार्ग उज्ज्वल करती है ।”

अनुराधा की आवाज धीमी पड़ गई । शान्त स्थिर आवाज़ में बोली :

“मैं तुम्हारी प्रेरणा नहीं हूँ, न कभी थी। तुम्हारी प्रेरणा वह काम था जिसमें जीवन की परम सार्थकता थी। वही हमारे प्रेम का स्रोत था, वही हमारे जीवन की आधार-शिला थी। तुम फिर उसी में अपनी प्रेरणा पाओगे। उसी में खोकर अपना जीवन सार्थक करोगे।”

धनराज सिर झुकाये, अनुराधा का एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द सुन रहे थे। उनकी आँखों में आँसू छलक आये। अनुराधा ठीक ही तो कहती है। भला मौत से भी कभी प्रेरणा का अन्त हुआ है? मौत तो प्रेरणा को और भी सजग कर देती है। मौत तो जीवन दान देती है, कर्त्तव्य में निष्ठा देती है, चलते रहने की शक्ति देती है। अब अनुराधा लौट आई है। हम फिर उन लोगों के जीवन में अपने आपको खो देंगे। फिर अपने जीवन के एक-एक क्षण को सार्थक करेंगे।

बाबू धनराज ने सिर उठाकर, अपने कृतज्ञ, अश्रुप्लावित नेत्रों से अनुराधा की ओर देखा—पर अनुराधा वहाँ पर न थी! धनराज ने चारों ओर नज़र घुमा कर देखा, पर अनुराधा नज़र न आई। न दरवाज़े के पास, न खिड़की के पास। अनुराधा कमरे में न थी। धनराज हैरान हो उठे। लड़खड़ाते पाँव से वह खिड़की की ओर गये और भाँक-भाँक कर वह बाहर देखने लगे। मगर रात की निस्तब्धता को भंग करती हुई किसी के पाँव की आहट सुनाई न पड़ी।

बड़ी देर तक धनराज खिड़की के पास खड़े रहे, फिर कमरे में लौट आये, और धीरे-धीरे किसी स्निग्ध, उत्साहपूर्ण स्मृति में डूबे हुए वह शकुन्तला के कमरे की ओर चल पड़े।

पागल कौन और संज्ञावान् कौन—मरे लिये इनमें भेद जानना बहुत कठिन हो गया है। आप कहेंगे पागल और संज्ञावान् में भेद कौन नहीं जानता। पर मैंने ऐसे व्यक्ति देखे हैं जो जीवन के सब कर्तव्य निभाते हुए समाज की सब मर्यादाओं का पालन करते हुए भी पागल होते हैं। मैं सोचता हूँ कि हर मनुष्य के मस्तिष्क में एक चित्र होता है। वह चित्र जो कभी धूमिल और कभी स्पष्ट, कभी स्मृति बन कर और कभी स्वप्न बनकर, उसकी चेतना के सामने सदा उपस्थित रहता है, और उसकी चेतना मृत्यु-पर्यन्त उसके इर्द-गिर्द अपने जाल बुनती रहती है उसे सजाती और संजोती रहती है। बाहिर के लोग इस छिपे चित्र को नहीं देख पाते, इसलिए मनुष्य का व्यवहार साधारण जान पड़ता है, पर यदि किसी की झलक मिल जाये तो उसी प्राणी के व्यवहार में छिपा पागलपन भी नज़र आने लगेगा।

जब मैंने हरिसिंह को पहली बार देखा तो वह मुझे साधारण-सा आदमी नज़र आया। उस वक़्त उसकी उमर ३५-४० वर्ष के लगभग होगी। ढीला नाटा वदन, बड़ी-बड़ी काली मूछें जो उसके दोनों होठों को ढके हुए थीं। कुरूप से चेहरे पर छोटी-छोटी तेज़ आंखें, वह सिर पर ढीली-सी टोपी पहने, बदन पर मैला-सा कुर्ता और पाजामा लट्-फाये मेरे सामने खड़ा हुआ कह रहा था :

मैं खाना बना सकता हूँ। घर का सब काम जानता हूँ साहिब, बरसों से यही काम कर रहा हूँ।

और उसे सिर से पाँव तक बार-बार देखते हुए मैंने यही सोचकर

कि अभी भाग्य में अच्छा नौकर नहीं लिखा, उसका नाम पता नोट कर के उसे नौकर रख लिया था ।

पर हरिसिंह देखने में जितना ढीला ढाला था काम-काज में वह उतना ही चुस्त निकला । समें न सुस्ती थी न गन्दगी । इस पर उसे एक बार कही हुई बात को दोहराना न पड़ता, अपने आप वह सब काम करता और बोलता कम था । धीरे-धीरे उसने घर का काम संभाल लिया और हम सन्तुष्ट और निश्चिन्त हो गये ।

एक दिन मैं शाम को घर पर लौटा तो मैंने देखा कि हरिसिंह रसोईघर में अंधेरे में बैठा दरवाजे की ओर पीठ किए एक दिये की स्थिर रोशनी में दीवार पर कुछ लिख रहा है । मेरे कदमों की आहट न मालूम उसने सुनी या नहीं, वह लिखने में इतना व्यस्त था कि उसने मेरी ओर कोई ध्यान न दिया । मुझे उसकी लापरवाही कुछ अखरी जरूर पर मैं चुप रहा । मैं रसोईघर के दरवाजे पर धीरे से जाकर खड़ा हो गया । उस क्षीण झुटपुटी रोशनी में मैंने देखा : उसने हाथ में एक लोहे का टुकड़ा पकड़ रखा था और उसकी तेज नोक से वह रसोईघर की दीवार पर कुछ लिख रहा था । मुझे बुरा लगा कि लोहे से दीवार कुरेदने का क्या मतलब । और फिर वह बिल्कुल निरक्षर और अनपढ़ था । वह लिख क्या रहा था ? मैंने ध्यान से सिर झुका कर देखा : दीवार पर एक के साथ दूसरे पाँच-सात चौकोर से खाने बने हुए थे, कुछ बेतरह-सी रेखाएँ कुछ नीचे कुछ ऊपर । बस यही कुछ था । एक छः वर्ष का बालक भी इससे सीधी रेखाएँ खींच सकता था । मैं काफी देर तक इसके पीछे खड़ा यह क्रीड़ा देखता रहा । वह पहले एक सीधी लाइन खींचता फिर दाएँ बाएँ से लाइनें खींचकर एक भट्ठी सी चौकोर बनाता फिर उसके नीचे ओर ऊपर लाइनें खींचने लगता ।

मैं खाँसा । मेरे खाँसने पर सहमा उसके हाथ रुक गये और उसने धीरे से सिर घुमा कर पीछे की ओर देखा । मेरा ख्याल था कि मेरे

खाँसने पर वह हड़बड़ा कर उठ बैठेगा मगर उसने मेरी ओर गर्दन घुमा कर देखा और कितने ही क्षण देखता रहा। फिर वह सहसा जैसे अपनी तन्द्रा से जागा। भट से लोहे के टुकड़े को चूल्हे के पीछे फेंक कर उठ खड़ा हुआ और रसोईघर के बाहिर जाकर अपना काम देखने लगा।

“दीवार पर क्या लिख रहे थे हरिसिंह ?”

वह चुपचाप खड़ा हो गया बोला कुछ नहीं। मैंने मुनासिब समझा कि उसे आगे के लिए डाँट दिया जाय :

“इस तरह दीवार खराब करने का क्या मतलब है ? जो कुछ लिखना-विखना भी हो तो पैसिल के साथ कागज पर लिखो, यूँ लोहे से दीवार कुरेदने का कोई मतलब नहीं।”

यह कहकर मैं अपने कमरे में चला गया।

उस दिन के बाद मैंने उसे कभी दीवार पर लिखते नहीं देखा, न पैसिल से, न लोहे के टुकड़े से। मैं सन्तुष्ट हो गया कि वह समझदार निकला। एक बार कहा दूसरी बार कहने को जरूरत नहीं पड़ी।

मगर कुछ रोज बाद मैं शाम को एक किताब देख रहा था। जब मेरी स्त्री ने मुझे आकर कहा : “यह हरिसिंह को क्या हो गया है, दिन-ब-दिन सुस्त होता जा रहा है। न हूँ न हाँ, सुबह से बर्तन पड़े हैं, अभी तक साफ नहीं किये।”

मैंने किताब पर से आँख उठा कर कहा : “शायद इसका स्वास्थ्य ठीक न हो। क्या तुमने उससे पूछा है ?”

“स्वास्थ्य को क्या है ठीक-ठाक है। बस अब इसकी कली उतरने लगी है और क्या। दो दिन काम ठीक करते हैं जब टिक जाते हैं तो फिर वैसे-कैसे। अब एक-एक काम के लिये बार-बार कहना पड़ता है।”

“कुछ दिन और देख लो” शायद अपने आप काम ठीक करने लगे।”

“यह काम अब ठीक नहीं करेगा, सब एक-से होते हैं।”

दो दिन और बीत गये। हरिसिंह का काम पहले से कुछ बेहतर हुआ, पर कोई विशेष फ़रक़ न था। एक दिन अंधेरा पड़ने पर, जब मैं और मेरी पत्नी बाहर से घर लौटकर आये तो हरिसिंह ने चल्हा, रसोईघर के बाहर, बरामदे में रखा हुआ था, और वहीं पर रसोई के बहुत से बर्तन रखे, पूरा किचन बरामदे में चला रहा था। देखते ही पत्नी क्रुद्ध हो उठी :

“यह सब बिना पूछे तुम बाहर किस लिए ले आए हो ? जानते नहीं धुएं से बरामदे की दीवारें स्याह काली पड़ जायेंगी। तुम्हें अपनी मनमानी करने को किस ने कहा था ?”

हरिसिंह ने बिना मुंह ऊपर उठाए जवाब दिया, “यह रसोईघर बहुत छोटा है, बीबी जी, अन्दर बैठो तो दम घुटता है।”

आखिर हरिसिंह कुछ बोला तो सही। पेशतर इसके कि श्रीमती जी कुछ कहतीं मैं खुद बोल उठा :

“आज यहीं पर कर लो मगर कल इस बंद खिड़की को खोल लो, दम तुम्हारा नहीं घुटेगा।”

बात ख़त्म हो गई। दूसरे दिन सुबह ही मैंने खिड़की खुलवा दी और हरिसिंह सब सामान अन्दर ले गया।

पर उसी शाम जब मैं दफ़तर से लौटा तो श्रीमती मुझे दहलीज़ में मिलीं।

“हरिसिंह तो चला गया है।”

मुझे इस ढंग का स्वागत अच्छा न लगा। मैंने घर में पाँव रखते हुए कहा :

“तो तुमने उसे जाने क्यों दिया ?”

“किसी को कोई बाँध कर थोड़े रख सकता है। मैंने बहुतेरा समझाया, धमकाया मगर वह एक नहीं माना।”

“तो तुम्हीं को परेशानी उठानी पड़ेगी। आज का खाना तो उससे

बनवा लिया होता ।”

खाना बन गया है । एक लड़के को साथ ले आया था कि इसे रख लो, मैंने फिलहाल उसी को रख लिया है ।

मैं अन्दर गया और मन की खीज भुलाने के लिये बैठक में अखबार लेकर जा बैठा । थोड़ी देर में श्रीमती भी अपनी सिलाई कढ़ाई का काम लेकर पास ही पलंग पर आ बैठी । काफी देर तक हम अपने विचारों में उलझे रहे । फिर सहसा श्रीमती हंस पड़ी ।

“क्या है । हंस क्यों रही हो ।”

“मैं बताऊं हरिसिंह किसी बंगले में नौकरी करने गया है । ऐसा बँगला जिसके दरवाजे हरे रंग के होंगे और दीवारें पीले रंग की ।”

“क्या मतलब । तो क्या कहीं नौकरी का इन्तजाम पहले से कर आया था ?”

“मे क्या जानूँ ।” श्रीमती ने फिर हंसते हुए कहा, “आज जब दिन का खाना बना चुका तो मेरे सामने आ बैठा । मैं उस वक्त बरामदे में बैठी सिलाई कर रही थी । कहने लगा : बीबी जी, इधर बहुत खाली-खाली है । साहिब काम पर चले जाते हैं, बेटी दिन भर स्कूल में रहती है मुझे अच्छान ही लगता । मैंने कहा इससे तुम्हें क्या मतलब ? तो सिर हिला-हिला कर कहने लगा : रौनक वाला हो बीबीजी, दस पन्द्रह आदमी रहते हों, कोई आये कोई जाये । पाँच छः बच्चे हों बड़ा-सा बंगला हो, बाहर छोटी-सी फुलवाड़ी हो और बंगले का रंग पीला और दरवाजे हरे रंग के हों । आठ-दस कमरे हों, और खिड़कियों पर लाल-लाल पर्दे हों । इसी तरह ऊल-जलूल बोलता रहा । फिर फर्श पर उँगली से एक खाका बनाने लगा : इधर भी कमरा है, यह भी कमरा है, यह साहब का गुसलखाना, इधर बैठने वाला कमरा, इधर बच्चे बैठकर खेलते हैं... । मैं सब सुनती रही । दोपहर को जब छुट्टी करके लौटा तो एक लड़के को साथ ले आया और स्वयं छुट्टी माँगने लगा । बोला, बीबीजी तुम

इसे रख लो । मैंने बहुतेरा डराया धमकाया मगर वह एक न माना । कभी मेरे पाँव पकड़ता, कभी हाथ जोड़ता । आखिर मैंने जाने दिया ।”

मैंने अखबार में पर रख दी और श्रीमती को कहा :

“जरा बाहिर चलो ।”

“क्या है ?”

वह उठ खड़ी हुई और मैं उसे कोन्ही से पकड़े रसोईघर की दीवार के सामने ले गया :

“क्या ऐसा ही खाका था ।” मैंने दीवार पर कुरेदी हुई रेखाएँ और चौकोर खाका दिखा दिया । यह बैठने वाला कमरा, यह साथ गुसल-खाना यह सामने शहर को जाने वाली सड़क....”

“अरे”, श्रीमती ने हैरान होकर कहा और फिर चुप हो गई जैसे सहम-सी गई हो ।

फिर उसकी नज़र किचन की सब दीवारों को देखने लगी । जगह-जगह पर इसी ढंग के ऊबड़-खाबड़ खाके खिचे थे, अंगीठी के ऊपर, चूल्हे से दाई ओर, सामने की दीवार पर दर्जनों चित्र खिचे थे ।

“हरिसिंह तो खासी जायदाद का मालिक था ।” मैंने कहा ।

“तो यह रसोईघर में बैठा यही कुछ किया करता था ।”

श्रीमती का दिल उसके प्रति पसीज उठा । बड़ी देर तक खड़ी वह इन खाकों को देखती रही, फिर बोली :

“पगला, जो इतना ही बंगले में रहने की साध थी तो यहाँ आया ही क्यों ?”

और हम दोनों चुपचाप वापिस लौट आये ।

बहुत-से दिन बीत गये । इस बात को मैं तो धीरे-धीरे भूल गया मगर श्रीमती को याद रही । बरसात आई, बरसात के बाद दशहरा आया फिर दीवाली आई । घर में बड़ी तबदीलियाँ हुईं, घर भर में सफेदी हुई, हमने दो नौकर और बदल लिये, और हरिसिंह का चेहरा

हमें धीरे-धीरे भूलने लगा जब एक दिन हरिसिंह के बंगले हमें अचानक याद हो आये ।

मैं और श्रीमती शाम के वक्त तांगे पर छावनी से शहर की ओर लौट रहे थे । जो रास्ता छावनी से शहर को जाता है, वह है तो सीधा मगर शुरू में एक गहरी ढलान और ढलान के बाद एक ऊँची चढ़ाई जाती है । यह चढ़ाई शुरू होने से पहले सड़क का थोड़ा-सा हिस्सा हमवार है जहाँ एक तरफ़ जानवरों को पानी पिलाने की घरनी है । हमारा तांगे वाला यहाँ रुक गया, दो तीन तांगे पहले ही से खड़े थे । तो हम दोनों तांगे पर से उतर आये और सड़क के किनारे टहलने लगे ।

सड़क के दोनों तरफ़ सरकारी बंगले हैं । उन दिनों बरसात के बाद लगभग सभी बंगलों में लिपाई हो रही थी ।

“देखो, कैसे खूबसूरत बंगले हैं ।” मैंने कहा ।

“हाँ कैसे धुले-पुते हैं, हर एक के बाहर फुलवाड़ी है……” श्रीमती कहने लगी, फिर सहसा मेरा बाजू पकड़ कर बोली :

“तुम्हें हरिसिंह याद है ?”

“वह जरूर यहीं कहीं काम करता होगा । वह भी ऐसे ही बंगले की कहता था, जिनके बाहर फुलवाड़ी हो, और न जाने क्या-क्या...”

मुझे भी हरिसिंह के बंगले का वर्णन याद हो आया । हमारे शहर में यही एक इलाका था जहाँ थोड़े से बंगले थे । पर हरिसिंह को गये महीनों बीत चुके थे । क्या मालूम वह कहाँ होगा ?

“आओ उस आदमी से पूछें ।” श्रीमती ने आग्रह से कहा । सामने एक बंगले के बाहर एक आदमी बैठा चिलम पी रहा था । हम सड़क पार करके उसके पास आ पहुँचे ।

मालूम हुआ कि वह उस कोठी का चौकीदार है और गढ़वाल ही का रहने वाला है जिस जगह का हरिसिंह था । मैंने हरिसिंह को पूछा

उसका हुलिया वगैरह बताया तो उसने झट सिर हिलाते हुए कहा :

“मैं जानता हूँ साहब, मेरे देश का रहने वाला है। उधर साथ वाली कोठी में काम करता था मगर अब वहाँ नहीं है।”

“अब कहाँ है ?” मैंने पूछा।

“क्या ख़बर साहब, कहाँ है, यहाँ से तो निकाल दिया गया।”

“निकाल दिया गया, क्यों ?”

वह क्षण भर मेरे मुँह की ओर देखता रहा, फिर बोला :

“उसका कुछ मत पूछो सरकार, उसके नसीब में चक्कर हैं। वह कहीं भी टिकता नहीं है। इधर दो-तीन महीने रहा, वह सामने तीन नम्बर बंगला है उसमें रहा, दो वर्ष पहले पिछवाड़े में गिरजे वालों का बंगला है वहाँ रहा, और न मालूम कहाँ-कहाँ रहा, मगर सब जगह यही हाल है।”

“क्यों क्या बात है ? है तो ईमानदार आदमी ?”

“हाँ साहब ठीक है, हाथ का साफ़ है, ईमानदार है, मगर उसकी किसी के साथ पटती नहीं है। वह बंगले में हुकूमत करना चाहता है। जो बंगले में माली है, चौकीदार है बहिस्ती-भंगी है, सब पर रौब गाँठना हुकम चलाना, इससे बोल, उससे तक्रार कर। उसे कौन समझावे कि भला तुम्हें क्या पड़ी है, तू अपना काम देख मगर नहीं, जैसे वही मालिक हो।”

“निकाला किस बात पर ?”

“ड्राइवर से झगड़ा हो गया। ड्राइवर को धमकाने लगा कि मोटर को यूँ साफ़ नहीं करते, यूँ करते हैं। ड्राइवर मोटर का काम जानता है या रसोइया ! ड्राइवर ने गुस्से में आकर उसे थप्पड़ दे मारा। तो बात बढ़ गई। साहब को मालूम हुआ तो उन्होंने फ़ौरन उसे बरखास्त कर दिया।”

मुझे सुनकर अफ़सोस हुआ। मुझे मालूम न था कि बंगलों की

लालसा में यह दारुण व्यंग्य भी छिपा होगा ।

“अब कहाँ है ? क्या गाँव लौट गया है ?”

“गाँव में क्या घरा है ! एक माँ है जो अन्धी है और दूसरी घर-वाली जिसे दिक्क का रोग है । यहीं कहीं काम ढूँढ़ता होगा ।”

हम लौट आये और बड़ी देर तक उस विचित्र आदमी को सोचते रहे । मन विचलित और उदास हो उठा था । वह किस मृगतृष्णा के पीछे वर्षों से भटक रहा है और भटकता रहेगा । एक तरफ फटेहाली दूसरी तरफ बंगलों की सरदारी—हरिसिंह पागल नहीं था, तो क्या था !

इसके बाद फिर बहुत-सा समय बीत गया, शायद दो या तीन वर्ष । जब कभी हरिसिंह की याद आती मन को धक्का लगता । एक बार मालूम हुआ कि इसी शहर में है । मगर कहाँ है, इसका कुछ पता न चला । एक बार मेरी धर्मपत्नी और बेटा ने उसे बाज़ार में भी देखा दूध का बर्तन हाथ में उठाये हुए था, मगर बातचीत बहुत नहीं हुई क्योंकि श्रीमती को घर लौटने की जल्दी थी । उसके बाल सफ़ेद हो रहे थे और सामने के दो-तीन दांत टूट चुके थे ।

आखिर एक दिन मैंने भी उसे देखा और यह मिलन भी उतना ही झूठा था जितना कि पहला परिचय ।

सितम्बर का महीना था । दशहरा नज़दीक था, हमारे घर से थोड़ी दूरी पर रामलीला का आयोजन हुआ था । बेटा का आग्रह करने हम उसे वहाँ रामलीला दिखाने ले गये । और वहाँ पर मैंने हरिसिंह को आखिरी बार देखा ।

रामलीला का मैदान धूल और गर्द से पटा पड़ा था । और भीड़ इस कदर ज्यादा थी कि स्टेज के नज़दीक पहुँचना हमारे लिए असम्भव हो रहा था । फिर भी अपनी कोन्हीं और पशुबल की मदद से

में जहाँ तक हो सका इन्हें आगे ले गया और जहाँ जगह मिली हम बैठ गये ।

जब हम पहुँचे तो दशरथ कैकेयी संवाद चल रहा था । महाराज दशरथ लम्बी दाढ़ी लगाये सिर पर मुकुट रखे अपनी हिलती तोंद को संभाले स्टेज पर कभी बाएँ और कभी दाएँ घूम रहे थे । और कैकेयी जिसका पार्ट कोई गहरी आवाज़ वाला लड़का खेल रहा था, अपने मस-नूबी बाल खोले बार-बार छाती को साड़ी से ठकता हुआ चीख-चीख कर बोल रहा था । खेल अत्यन्त नीरस और रुचिहीन था । मेरा मन खीज उठा ।

इतने में मेरी बेटी ताली बजाकर बोल उठी :

“नट देखो हरिसिंह ।”

“कहाँ है ?” मैंने पूछा ।

“वह जो राजा का पार्ट कर रहा है ।”

मैंने ध्यान से देखा । बेटी ने खूब पहचाना था । हाँ वही था । दाढ़ी और मुकुट और राजसी बाने के होते हुए भी हरिसिंह अपना ढीला-ढाला बदन और चाल छिपा न पाया था । अपनी छोटी-सी तोंद को संभाले उसका स्टेज पर चक्कर काटना और दोनों हाथ उठा-उठाकर विलाप करना अत्यन्त हास्यास्पद था ।

म्यूनिसिपैलिटी के क्लर्क दाताराम की बीवी, फूलाँ, अपना ढाई मन का भारी भरकम शरीर थामें, पलंग पर बैठी रो रही थी। आँखों में से भर-भर गिरते आँसू गालों की गेंदों पर रुकते, लुढ़कते कभी गर्दन की सिलवटों में, कभी छलांग लगाते सीधे कमीज पर गिर रहे थे। गालों के उभार और आँखों के बीच आंसुओं के दो नन्हें-नन्हें ताल बन रहे थे, जिन्हें फूलाँ बार बार पल्ले से सुखाती मगर वह फिर भर उठते सिर हिलाती हुई, एक हाथ को चिबुक पर रखे, बार-बार कहती :

“अब माणों नहीं आयेगी। मैं कहती हूँ अब वह कभी नहीं आयेगी। मैं कलमुँही, मैं उसे न दुत्कारती तो वह क्यों जाती? बस बहिन जी, यहाँ पलंग पर वह मेरे साथ बैठी और मैं उसे कोसने लगी।”

मुहल्ले की तीन-चार औरतें और कई एक लड़के लड़कियाँ फूलाँ के इर्द-गिर्द जमा थे मगर किसी की आँखों में हमदर्दी की बूंद तक न थी। लड़कियाँ तो बल्कि कनखियों से एक-दूसरी को देख-देख कर मुस्का रही थीं।

“हा ! गया वक्त हाथ नहीं आता। जो मैं उसे न टोकती तो वह क्यों जाती? मैंने अपने हाथों से घर की लक्ष्मी को निकाल दिया।”

इस पर एक पड़ोसिन, गोमती की माँ, चौकी पर से उठ कर फूलाँ के पास पलंग पर आ बैठी और फूलाँ की पीठ पर हाथ फेरते हुए बोली :

“चिन्ता मत कर फूलाँ, भला ऐसे भी कोई दिल हल्का कर लेता है। मैं अब भी कहती हूँ कि वह यहीं कहीं पर होगी ? तू क्यों रो रो कर आधी हुई जाती है ?”

गोमती की माँ का यह कहना था कि सब लड़कियाँ मुँह छिपा-छिग कर हँसने लगीं।

“हैं मूरख ! यूँ भी कोई हँसता है ? शरम हया तो घोट कर पी गई हो। उसे ढूँढ़ने तो जाती नहीं, यहां डांग की डांग खड़ी हँस रही हो।”

फूलाँ ने खिड़की में से बाहर भाँक कर देखा और फिर हाथ हिला-हिला कर बोली :

“देखो तो, ऊपर कौन-सा वक्त आ रहा है। काली रात पड़ने वाली है, अब मैं उसे कहाँ ढूँढ़ूँगी ?”

“चाचाजी आयेगे तो मिल जाएगी, चाची।”

“तेरे चाचाजी को क्या पड़ी है, कोई मरे कोई जिये। दफ्तर से उठते हैं मन्दिर जा बैठते हैं। भला मन्दिर कहीं भागा जाता है ? दोपहर से माणों गायब है, उनका दिल भी नहीं किया कि घर आके पता ही कर लूँ। जैसे उनकी कुछ लगती ही न हो।”

और फूलाँ की देह, सिसकियों के साथ साथ फिर थिरकने लगी।

माणों बीबी जो सुबह से घर से भागी हुई थी, और कोई नहीं, केवल एक काले और सफेद रंग की छोटी-सी बिल्ली थी। फूलाँ ठीक कहती थी। सुबह उसने आधा प्याला दूध बिया, पलंग के पाँयते बैठी, फूलाँ की घुड़की सुनी और घर से भाग गई।

“मैं उसके कौन-कौन से गुण गिनाऊँ बहिन जी, मैं उसे छाती से लगाकर सोती थी। रात को वह रोज अपना बिस्तर छोड़कर चुपके से मेरे पाँयते आ घुसती, मैं उसे खींचकर छाती से लगा लेती। कभी उसने मुझे तंग नहीं किया। मैं जो कहूँ नीचे बैठ तो नीचे बैठती,

जो कहूँ ऊपर बैठ तो ऊपर बैठती। दूध सामने पड़ा रहता, जब तक मैं न कहूँ मुँह न लगाती।”

गोमती की माँ वीरा ने हामी भरी :

“तुमने फूलाँ वह किया जो कोई अपने सगे सम्बन्धियों के लिए भी नहीं करता। तेरा किया तो वह उमर भर नहीं उतार सकती। पर जो उसका भाग्य ही खोटा था तो तेरा क्या बस ?”

फूलाँ भुक्कर पलंग के नीचे से एक हरे रंग की छोटी-सी दुलाई और पीले रंग की खेसी निकाल लाई :

“देख वीरां, मैं मोह की मारी, उस के लिए क्या-क्या बनाती फिरी। जो मैं जानती वह यूँ बिछोड़ा दे जायेगी तो मैं क्यों उसके लिए इतना कुछ करती ?” और फूलाँ फिर फूट पड़ी।

मोटापा बड़ा बेदर्द होता है। छोटी काया वाले लोग रोते हैं तो जल्दी ही संभल भी जाते हैं। मोटा आदमी न रोना संभाल सकता है न हँसना। फूलाँ के घर जब माणों आती तो फूलाँ के प्यार के बाँध टूट पड़ते। दिन भर उसी को खिलाती, उमीसे लाड़ करती। दीन-दुनियाँ भूले हुए थी। और अब जो वह भाग गई तो फूलाँ की सिसकियाँ ही न थम पाती थीं।

“यह पहली बार न थी जो माणों घर से भागी हो। पिछले साल भी वह चार बार भाग चुकी थी। मगर रात पड़ने से पहले अपने आप लौट आती रही थी। एक बार ब्राह्मणी का बेटा बिशना उसे पकड़ कर ले गया तो शाम को उसकी माँ लौटा गई। एक बार मुहल्ले के चौकीदार को सड़क पर मिली और माणों उसके पीछे-पीछे चलती-चलती आ गई। तीसरी बार बाबूजी उठा लाये थे। मगर अब अन्धेरा पड़ रहा था। जो अभी तक नहीं आई तो जरूर कुछ बात हो गई होगी।”

अब फूलाँ से न रहा गया। बदन को घसीटते खींचते वह पलंग

से उतर कर फर्श पर आ खड़ी हुई। शरीर की सिलबटें खुल-खुल कर अपनी-अपनी जगह आने लगीं। और स्थूलकाय फूला, अपनी छोटी-छोटी टांगों पर अपने बदन का सारा बोझ उतार, पल्ला संभालती, सलवार को ऊपर खींचती, दरवाजे के सामने जा खड़ी हुई और बार-बार बाहर भांकने लगी। फिर उससे न रहा गया। कमरे में घूमकर आई और गोमती से बोली :

“जा तो मेरी दुलारी बहिन, एक बार फिर देख आ। क्या मालूम आ गई हो और कहीं रूठी बैठी हो। मैं शरीर की हारी उसे कहां ढूँढ़ने जाऊँ ?”

गोमती धीरे से उठी और चाची फूला से मुँह छिपाती, मुँह में दुपट्टा ठूँसती बाहर छज्जे पर आ गई। उसके पीछे-पीछे उसकी सहेलियाँ भी निकल आईं। छज्जे पर पहुँचते ही चारों सहेलियाँ ठहाका मार कर हंस पड़ीं।

फिर एक धीरे से बोली :

“हाय, बेचारी कितना रोती है !”

दूसरी ने जवाब दिया :

‘रोयेगी क्यों नहीं, सनक जो गई है।’

चारों सहेलियाँ माणों को ढूँढ़ने के लिए छज्जा पार करके सीढ़ियाँ उतरने लगीं। नीचे पहुँच कर गराज के सामने गईं तो गराज बन्द था। दरवाजे के छेकों में से भाँक-भाँक कर अन्दर देखा, चारों ने माणों-माणों पुकारा, मगर कोई आवाज़ न आई। फिर वह लौट पड़ीं और गराज के पास बड़े सरकारी स्टोर के अन्दर भांकने लगीं।

इधर लड़कियाँ माणों को ढूँढ़ रही थीं, उधर गोमती की माँ वीराँ, फूला के घुटने पर हाथ रखे कह रही थी।

“फूलाँ, तू किसी का बच्चा गोद ले ले। यह पिल्ले पाल-पाल कर तुझे क्या सुख मिलेगा ? इधर ब्राह्मणी के सातवाँ बच्चा हुआ है कहो तो बात करूँ ?”

फूला, मुश्किल से अपने आँसू पोंछ रसोई बनाने के लिए उठी थी :

“ले, यह तू कहाँ की बात ले बैठी, वीरां ? अब मेरी उमर है बच्चे पालने की ? मुझसे अपना शरीर तो संभलता नहीं, मैं बच्चा पालूँगी ?”

“कोई पला-पलाया तीन चार साल का ले ले ।”

“क्यों भला ? यह बखेड़ा अब मुझसे नहीं हो सकता । मुझसे अब बच्चों के पीछे नहीं दौड़ा जाता । बच्चे चलने लगें तो उनकी टांगों को पर लग जाते हैं । घर में तो वह टिकते ही नहीं । मैं कहाँ उनके पीछे-पीछे भागती फिरू ?”

फूलाँ ने ऐसी बात कही जैसे बच्चे पालना सचमुच पिल्ले पालने से कठिन काम हो !

पड़ोसियों ने एक दूसरी की त.फ़. देख, मुस्काई, फिर उनमें से एक दोनों हाथ हिला कर बोली :

“हाय, कौसी प्यारी थी ! उसकी आँखें तो रात को यूँ चमकें जैसे हीरे हों । मैं तो कहूँ कि यह बिल्ली नहीं पिछले जन्म की कोई घर की नातिन है । फूलाँ की गोद में से तो उतरती ही न थी !”

इस पर एक दूसरी बोली :

“तू व्याकुल न हो फूलाँ, तुझे देखकर न जाने कौसा कलेजा हो आता है । इतना रोने से क्या मिलेगा ? तू अब यही समझ कि उसके इस घर में दिन पूरे हो गये थे ।”

अन्धेरा बढ़ने लगा और लड़कियों ने जब माणों की कोई ख़बर न दी, तो वीरां फिर मुँह पर हाथ रख कर बोली :

“है भला, दिन दहाड़े माणों चली जाय और हम बैठे एक दूसरे का मुँह ताकते रहें ? चल फूलाँ, धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतर चल, जो मुहल्ले में हुई तो भागी हुई तेरी टाँगों से लिपट जायेगी ।”

और साथ ही एक लड़के को बाबू जी की तरफ़ दौड़ाया :

“भाग कर जा और फूलाँ के बाबू जी को दफ्तर से बुला ला । उन्हें कहना छुट्टी लेकर आजायें ।”

फूलाँ और गोमती की मां और हमसायनों के लड़के लड़कियाँ जब मैदान में आये तो ख़बर उड़कर सारे मुहल्ले में फैल गई कि फूलाँ चाची की बिल्ली खो गई है । पहले जब फूलाँ कभी-कभी माणों को गोद में उठाकर मैदान में आती थी तो लड़के अपना खेल भूल कर उस पर हंसने लगते थे । अब जो फूलाँ पड़ोसियों के साथ माणों को ढूँढ़ने निकली तो तमाशा बन गया । मुहल्ले भर के लड़के फूलाँ के इर्द-गिर्द आ खड़े हुए ।

एक ने कहा—“मैंने उसे देखा है । दोपहर को जब मैं दही लेने जा रहा था तो वह गराज की छत पर बैठी थी । उसके बाद मैंने नहीं देखा ।”

दूसरा बोला—“मैंने उसे मैदान के पार जाते देखा था । सड़क की तरफ़ जा रही थी ।”

इतने में पीछे से आवाज़ आई :

“वह देखो माणों आ गई ।”

“कहाँ ?” कह कर सब घूमें ।

“ओह नहीं, वह तो कुत्ता है ।” और सब लड़के हँसने लगे । तो एक ने तालियाँ भी बजाईं ।

फूलाँ के घर के सामने एक मैदान था, और मैदान के एक तरफ़, साथ-साथ तीन गलियाँ अन्दर को गई थीं । फूलाँ जब मैदान लाँघ कर गली की ओर जाने लगी तो लड़कों का जलूस भी उसके पीछे चला । फूलाँ उसी तरह व्याकुल और बेसुध चारों तरफ़ माणों को ढूँढ़ती हुई चली जा रही थी । गली के सिरे पर पहुँच कर, एक दीवार के पास खड़ी हो, ऊँची-ऊँची आवाज़ में पुकारने लगी :

“माणों ! माणों ! मेरी रानी आजा ! आजा मेरी बच्ची !

अब मैं तुम्हें कभी कुछ न कहूँगी ।

इस पर एक लड़का कूद कर दीवार पर चढ़ गया और वहाँ से ऊँच-ऊँची आवाज़ में बोला :

“आजा, मेरी बच्ची, आजा ! आ माणों, मेरी रानी आजा !!”

और इसके बाद कई लड़के इसी अन्दाज़ में आवाज़ें लगाते हुए माणों को पुकारने लगे ।

जलूस काफी दूर तक जाता जो अन्धेरा न बढ़ने लगता और फूलाँ की पड़ोसिनों को फूलाँ की दुर्दशा पर तरस न आ जाता । गोमती की माँ ने लड़कों को दुत्कारा, पीछे हटाया और बड़े आग्रह से उसका हाथ पकड़ कर उसे उसके घर वापिस ले गई । लड़के बिचर गये और पड़ोसिनें फूलाँ के भाग्य की चर्चा करती हुई धीरे-धीरे अपने-अपने घर चली गईं ।

फूलाँ घर पर लौट तो गई मगर उसके मन को चैन कहाँ ? खाली घर जैसे काटने दौड़ता था । यह पहली रात थी जब माणों उसकी गोद में न थी । फूलाँ ने जैसे-तैसे हुआ रसोई बनाई । फिर सालन, रोटियाँ, दूध का कटोरा ढक-संभाल कर रखा और चौके में से निकल आई । जल्दी से माणों के प्याले को दूध से भर कर ऐन मेज़ के नीचे रखा जहाँ माणों उसे रोज़ पिया करती थी । फिर लैम्प हाथ में उठाकर, धीरे-धीरे संभलती ठहरती सीढ़ियाँ उतरने लगी । पाँच बरस के बाद दिन में दूसरी बार सीढ़ियाँ उतरते हुए उसके पाँव काँप रहे थे, और लैम्प हाथों में डोल-डोल जाता था ।

इधर फूलाँ माणों-माणों करती हुई बिल्ली के पीछे प्राण दे रही थी, उधर फूलाँ का घर वाला, बाबू दाताराम, सनातनधर्म मन्दिर के बाहिर भक्तों के जूते जोड़ रहा था । घर जाकर क्या करे ? फूलाँ तो मोह के बीच में फंसी पड़ी है, वह क्यों उसमें फंसे ? उसके लिए सेवा में आनंद था । फूलाँ का घरवाला पानी के महकमें में बाबू था,

पर इससे अधिक वह सनातनधर्म मन्दिर का सेवादार था। जब जवानी के दिन थे तो दफ्तर से बक्त पर घर आ जाया करता था। कभी-कभी फूलाँ को घुमाने भी ले जाया करता था। और फूलाँ ह पती हुई सड़क के एक सिरे पर होती तो वह दूर दूसरे सिरे पर जा पहुँचता और सब हमसाये हंसते थे। मगर जवानी के बाद ज्यों ही बाल सफेद होने लगे, और घर में कोई तीसरा जीव न आया, तो मन वैराग्य से भरने लगा। अब आगे की फ़िकर करनी चाहिए। फूलाँ तो मोह के जाल में लिपटी पड़ी है, वह खुद तो संवा करक कुछ पुण्य कमा लें ताकि अगले जन्म में काम आये। यूँ गिरस्ती और रोज़ी दोनों के कर्तव्य बड़े निर्लिप्त मन से निभाये जा रहा था, पर मन उसका भगवद्भजन में ही था।

बाहिर चान्दनी छिटकी हुई थी और कुहरा पड़ने लगा था जब फूलाँ लैम्प उठाये, गलियों के अन्धेरे कोनों में, छज्जों और सीढ़ियों के नीचे, धूरों और दीवारों पर माणों को ढूँढ रही थी। गलियाँ सूनी पड़ी थीं। लोग अपने-अपने घरों में, आग तापते, अपने बाल-बच्चों के साथ सुख की घड़ियाँ बिता रहे थे। कहीं-कहीं घरों के अन्दर बैठी, फूलाँ की साथिनों ने उसकी आवाज़ सुनी, कोई हंसी, किसी ने आह भरी, मगर सब अपने-अपने बच्चों को खिलाने-पिलान में व्यस्त थीं, कोई बाहर न आई। और आती भी क्योंकर ? फूलाँ तो पिल्ले के मोह में सनक गई थी।

फूलाँ दो गलियाँ घूम-घाम कर तीसरी में जाने ही वाली थी कि एक जगह उसे ऐसा भास हुआ जैसे उसने माणों को देख लिया है। एक दीवार पर दो बिलियाँ एक दूसरी के पीछे भागी जा रही थीं। फूलाँ अभी घूम कर उन्हें देख ही रही थी कि वह छलाँग लगा कर दीवार के दूसरी तरफ चली गई, और दीवार के पीछे से उनके लड़ने चीखने भागने की आवाज़ आने लगीं। फूलाँ भागती गिरती उस दीवार के नीचे जा खड़ी हुई।

“माणों ! माणों आ जा ! पगली, यहाँ क्या कर रही है ? यह वक्त कोई बाहर घूमने का है ?”

फूलाँ उसी दीवार के नीचे खड़ी हो गई, और बार-बार माणों को पुकारने लगी । उसे विश्वास था कि माणों उसकी आवाज़ सुनते ही भागकर उसके पास लौट आएगी । मगर माणों नहीं आई । खड़े-खड़े फूलाँ के पाँव सुन्न होने लगे । वह मन-ही-मन क्षुब्ध और दुखी होने लगी कि माणों उसकी आवाज़ सुनकर भागी क्यों नहीं आई, जब गली के सिरे पर उसे कोई आदमी आता हुआ नजर आया । भट पहचान गई और भागी हुई उसके पास जा पहुँची । और बोली :

“माणों मिल गई हैं ! इस दीवार के पीछे अभी-अभी मैंने उसे जाते देखा है ।”

“तू यहाँ क्या कर रही है ? सारा घर खुला पड़ा है । तू सीढ़ियाँ कैसे उतर आई ?”

“माणों इस दीवार के पीछे अभी भागकर गई हैं !”

बाबू दाताराम पहले ही माणों की वार्ता सुन चुका था । गुस्से से भरा हुआ घर से निकल कर आया था । यूँ पहर रात गये एक बिल्ली के पीछे मारे-मारे फिरना उसे अज्ञान और मोहान्धता की चरम सीमा नज़र आई । बिगड़ कर बोला :

“तूने मुझे रुस्वा कर दिया है, कहीं का नहीं छोड़ा । एक पिल्ले के पीछे भागती फिरती है । यह वक्त होता है भगवान् के चरणों में बैठने का, तू बिल्लियाँ कुत्ते ढूँढ़ रही है । तेरी अकल ठिकाने है या नहीं ?”

मगर फूलाँ गिड़गिड़ा के फिर बोली :

“मेरा दिल कहता है कि माणों दीवार के पीछे है । वह सुनी तुम ने आवाज़ ?”

“मेरी बला से, मरी है या जीती । तू घर चल !”

“हाय हाय, शुभ-शुभ तो बोलो । तुम तो ऐसी बातें कर रहे हो जैसे माणों कोई पराई हो ।”

“जो माणों है तो इस वक्त तुम्हें वह पकड़ाई देगी ? जानती नहीं, आजकल इनका मौसम है ? नज़दीक जाओ तो वह काटने को दौड़ेगी । अब भगवान् के वास्ते घर चल !”

और बाबू दाताराम घसीट कर फूलाँ को घर ले चला ।

उस रात जब फूलाँ और बाबू दाताराम अपनी-अपनी खाट पर लेटे तो बाबू दाताराम का मन भारी हो उठा । मन में पश्चात्ताप आने लगा । इसमें इसका क्या दोष ? मोह-माया में डूबी हुई है, पर इससे इसका दिल तो भरा रहता है । बिल्ली से भी घर भरा-भरा तो लगता था । तीन जीव तो घर में सोते थे । अब तो यहाँ और भी ख़ाली-ख़ाली लगेगा । फिर विचारों की श्रृंखला स्मृतियों में जा मिली । मुँह में से एक हल्की-सी सांस निकली । सभी कहते थे हकीम आसानन्द के पास गर्भ का नुस्खा है । जो उसकी दवाई करते तो शायद ठीक हो जाती । शायद इसके भी बाल-बच्चे हो जाते । फिर उसी वक्त दिल में एक और ठूक-सी उठी । मैंने भी जिन्दगी में क्या सुख पाया ? बांभ औरत घर बिठा ली । सब कहते थे दूसरी शादी कर लो । जो उस वक्त शादी की होती तो घर में पाँच-पाँच बेटे होते । बाबूजी की आंखों के सामने इस छोटे से घर का आंगन खेलते बच्चों से भर गया । कोई मेज़ पर चढ़ा हुआ था, कोई खिड़की पर, कोई फर्श पर बैठ काग़ज और खिलौने फैलाये खेल रहा था । कोई माँ के साथ चिपटा हुआ था । बाबू दाताराम के मन की सोई हुई ख्वाहिशें जागने लगीं । अब भी इसे इसके बाप के घर भेज दूँ और दूसरा ब्याह कर लूँ । या, यह यहीं पड़ी रहे, मेरा क्या लेती है । बाल-बच्चे का मुँह तो देखूँगा । बाबू दाताराम के मन को सहसा धक्का-सा लगा । उसी वक्त सिर के नीचे से दोनों हाथ निकाल कर छाती पर जोड़ लिए और मन-ही-मन प्रार्थना की : हे भगवान्, मेरे

गुनाह माफ़ करना। यूँ ही मेरे मुँह से निकल गया है, मेरे मन में अब कभी इसे छोड़ने का विचार नहीं आयेगा। जिसमे तेरी रज़ा है, मैं उसी में खुश हूँ।

प्रार्थना अभी समाप्त नहीं हुई थी कि फूलाँ की खाट के चटखने की आवाज़ आई। फूलाँ करवट ले रही थी।

“सुनो जी, सो गये कि जागते हो?”

“क्या है फूलाँ?”

“क्या माणों अब कभी वापस नहीं आयेगी?”

बाबूजी की विचार-श्रृंखला भंग हो गई और मन अतीत से वर्तमान में आ पड़ा। मगर संभल गये, और क्रोध को दबाते हुए बोले :

“अब सो जा फूलाँ, कान मत खा। मैं क्या जानूँ आयेगी या नहीं।”

“जो बिल्लियों के बच्चे-बाले हो जायें तो क्या वह घर छोड़ जाती है ? अपना घर अलग बसा लेती है ?”

बाबूजी का मन झुंझला उठा। कुछ कहने ही जा रहे थे कि फूलाँ ने बड़े आग्रह से कहा :

“अच्छा, जहाँ रहे सुखी रहे ! पर अब जो माणों आ गई तो उसे मैं कभी आँखों से ओझल न होने दूँगी। उसके बाल-बच्चे भी हुए तो उन्हें अपने पास रखूँगी। मैं पाँच-पाँच बच्चे पाल सकती हूँ। बच्चे पालने में है ही क्या ?”

और फूलाँ माणों के लौटने की फिर राह देखने लगी, और बाबू दाताराम का मन फिर घर से उचाट होने लगा।

ऐन उसी वक्त, माणों, चुपके से बाहर से आई और फूलाँ के पलंग के पाँयते दुबक कर बैठ गई।

